श्री राज कृष्ण जैन स्मृति भाषण माला

भारतीय धर्म एवं अहिंसा

पं० कैलाशचन्द्रजी जैन शास्त्री, वाराणसी

[बौद्ध-दर्शन-विभाग-दिल्ली विश्वविद्यालय के अन्तर्गत]

(तिथि २५, २६ मार्च, १९८३)

श्री राजकृष्ण जैन : परिचय

भारत त्याग प्रधान देश है। समय-समय पर ऐसे त्याग-परायण पुरुषों का यहां प्रादुर्भाव होता रहा है, जो अपने कार्य कलापों से मानव मात्र को सुख पहुंचाने का यत्न करते हैं। इसी सरणि में हम पाते हैं श्री राजकृष्ण जैन को। उनके पितामह श्री तुलसीराम जी व पिता श्री रंगीलाल जी सोनीपत (हरियाणा में एक जिला है) के निवासी थे। कुछ समय बाद वे अम्बाला छावनी में व्यापार करने चले गये।

उनका जन्म ११ अक्टूबर १६०० ई० (कार्तिक कृष्ण ४) भगवान सम्भवनाथ के केवल ज्ञान दिवस में अम्बाला के एक धार्मिक परिवार में हुआ। उनका पालन पोषण उक्त परिवार में प्रचलित दैनिक धार्मिक कार्यों के मध्य हुआ। अत: ज्यों-ज्यों वे बढ़ते गये उनमें क्रमश: धार्मिक प्रवृत्ति का भी उदय होता रहा। उनके सभी कार्य-कलाप धर्म भावना से अनुप्राणित होने लगे।

उनकी प्रारम्भिक शिक्षा स्थानीय विद्यालय में हुई और वहीं से वे मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। एवं परिस्थिति के भार से उन्हें व्यवहारिक जीवन में प्रवेश करना पड़ा। वे सर्वप्रथम डाक एवं तार विभाग में एक छोटे पद पर नियुक्त हुए। तदुपरांत अम्बाला छावनी मिलिट्री हास्पिटल में नियुक्त हुए। एवं पूर्ण निष्ठा तथा तत्परता के साथ सेवारत रहे। फलस्वरूप उन्हें शिमला स्थित सेना-मुख्यालय में अधीक्षक के पद पर कार्य करने का अवसर मिला। वहां भी उनकी कार्य के प्रति निष्ठा उसी प्रकार से बनी रही।

शिमला में रहते हुए उन्हें देश की पराधीनता का स्पष्ट ज्ञान हुआ। उन्होंने ब्रिटिश सरकार की दमन नीति एवं उसके दुष्परिणामों को पूर्णत: समझ लिया तथा ऐसा निश्चय किया कि वे अब सरकार की सेवा न करें। तदनुसार १६२१ ई० में उन्होंने सरकारी सेवा को त्याग दिया तथा असहयोग आन्दोलन में भाग लेते हुए राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए शांति पूर्वक प्रयास किया। इसके साथ ही उन्होंने

अपने पारिवारिक दायित्व को नहीं छोड़ा। स्वतंत्र ढंग से अब उनका व्यापार प्रारम्भ हुआ तथा अपने मित्रों के सहयोग से उन्होंने "ग्रेफाइट कोल कम्पनी" की स्थापना की।

१९३२ में दरियागंज, दिल्ली में २४ कोठियां थीं। लाला जी ने इस इलाके का विकास किया। इनमें से अधिकतर कोठियों को स्वयं खरीद कर सड़क, पानी, बिजली का प्रबंध करके रहने योग्य बनाया। अन्य रिहायशी मकानों के निर्माण में भी लालाजी ने अपना पूरा योग-दान दिया। देहली शाहदरा में भोलानाथ नगर, जवाहर नगर, महारथी कालोनी, फ्रेंडस कालोनी व माडल कालोनी आदि नई बस्तियां स्थापित कीं। १९४० में जब देहली इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट ने नई बस्तियां बसाने का निश्चय किया, तो उसकी जमीनों की बिक्री करने की सबसे पहली एजेंसी लाला जी को ही सौंपी गई।

सरकारी ठेकेदारी के अंतर्गत लालाजी ने देहली, गाजियाबाद, आगरा, डिबाई आदि में काम किया। सन् १९५६ में भोपाल में मध्यप्रदेश विधान सभा भवन के हाल का निर्माण किया और आगे चलकर १९६३-६४ में नई दिल्ली में मध्य प्रदेश भवन भी बनाया।

धर्म एवं जन सेवा के प्रति अनुराग :—

धर्म के प्रति लालाजी का अनुराग आरम्भ से ही था। कोई भी धार्मिक कार्य अकेले या केवल अपने ही लाभ के लिए नहीं करते थे। सन् १९३१-३२ और बाद में ५३ में भी उन्होंने अनेक धर्मानुरागियों को साथ लिया, और अपने वाहन द्वारा सभी पुण्यतीर्थों की वंदना की। १९५५ में केदारनाथ और बद्रीनाथ की यात्रा के समय आप के संगी-साथियों में प्रसिद्ध विद्वान डा० हीरालाल जी, यशपाल-जैन, तथा श्री विष्णुप्रभाकर जैसे महान् साहित्यकार थे।

लाला जी ने जैन समाज की सामाजिक, धार्मिक आर्थिक आदि स्थितियों को सुधारने में मूल्यवान योगदान किया। सबको सुगमता पूर्वक शिक्षा मिल सके, इस उद्देश्य से उन्होंने कई शिक्षण संस्थाओं को सहयोग दिया। औषधालय एवं सेवा गृहों के निर्माण एवं संचालन द्वारा जनता की सेवा में भी उनकी तत्परता तथा धन का परार्थ सद्-उपयोग उनके जीवन के प्रमुख कार्य देखे गये। जीवन के अंतिम क्षण

तक वे पर दुःख निवारण में ही लगे रहे। उनके ये कार्य सदा चलते रहें, इसके लिए उन्होंने "राजकृष्ण जैन धर्मार्थन्यास" की स्थापना की। इसी प्रकार सेवा रत रहते हुए ७३ वर्ष की आयु में ४ फरवरी १९७३ माह वदी अमावस्या भगवान श्रेयांसनाथ केवल ज्ञान् दिवस पर रात्रि को १२-३० बजे के लगभग लोकलीला समाप्त की।

योग्य पिता के योग्यपुत्र श्री प्रेम चन्द जैन, जो कि आजकल इस न्यास के अध्यक्ष हैं, के द्वारा सभी कार्य आज भी गतिशील हो रहे हैं। अन्य कार्यों के साथ-साथ अपने पिता की स्मृति में उन्होंने उक्त न्यास द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय में "श्री राजकृष्ण जैन स्मृति भाषण माला" का प्रारम्भ किया है। यह कार्य भगवान महावीर के पच्चीस सौवीं जयन्ती के अवसर पर प्रारम्भ हुआ। यह व्यवस्था नियमित रूप से चलती रहे, इसके लिए ५०,००० रुपयों की एक निधि दिल्ली विश्वविद्यालय को इस न्यास द्वारा दी गई। साथ-साथ अनेक मूल्यवान पुस्तकें भी दान के रूप में दी गईं। ऐसी व्यवस्था बनाई गई कि ५०,००० रुपयों की निधि के व्याज से प्रतिवर्ष प्राप्त ५,००० रुपये की राशि से किसी एक जैन विद्या में निष्णात विद्वान को भाषण के लिए आमन्त्रित किया जाय। यह परम्परा गत सात वर्षों से बिना किसी व्यवधान के चल रही है। अब तक सात मूर्धन्य विद्वानों ने अपने भाषणों द्वारा विद्या प्रेमी जिज्ञासुओं को कृतार्थ किया है। इसी क्रम में इस भाषण माला के अन्तर्गत विद्वत् वरेण्य पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री के पाण्डित्य पूर्ण भाषणों के श्रवण का शुभ अवसर हमें प्राप्त हुआ।

दरियागंज में कोई जल-यात्रा या रथयात्रा का आयोजन नहीं होता था। १९४० में लालाजी ने प्रथम बार यहां जलयात्रा का आयोजन कराया। इस जल-यात्रा का क्षेत्र पर्याप्त विस्तृत था। यह जलयात्रा ७ नम्बर दरियागंज से प्रारम्भ होकर, अनाथाश्रम, दिल्ली गेट के जैन मंदिर, असारी रोड, जैन बाल-आश्रम (अनाथाश्रम) होती हुई वापस आई थी। उस समय उसका लाइसेंस लालाजी के नाम ही बना था। कई वर्षों तक वह उन्हीं के नाम से रहा। बाद में उन्होंने दरियागंज जैन सभा की स्थापना और यह लाइसेंस उसके नाम करा दिया।

सन् १९४२ में अनाथाश्रम, दिल्ली की प्रतिष्ठा में लालाजी का सक्रिय सहयोग रहा। इसी साल में उन्होंने २१ नवम्बर दरियागंज में

अपनी ओर से एक सार्वजनिक फ्री होमियोपैथिक चिकित्सालय की स्थापना की, जो सफलता के साथ लगभग दस वर्षों तक चलता रहा।

सन् १९४४ में कलकत्ता में 'अ० भा० दि० जैन विद्वत् परिषद्' की स्थापना के पीछे लालाजी का सक्रिय प्रयत्न था। १९४५ में कटनी में सम्पन्न जैन विद्वत् परिषद् की उस कार्यकारिणी की प्रथम बैठक में लालाजी उसके कोषाध्यक्ष चुने गये और कई वर्षों तक इस पद पर रहे। सन् १९४४ में ही बूढ़ो चंदेरी तीर्थ क्षेत्र के जीर्णोद्धार में लाला जी का उल्लेखनीय सहयोग रहा। इसी समय उन्होंने अम्बाला के जैन मंदिर की प्रतिष्ठा में अपना अमूल्य योगदान दिया।

दिल्ली के निकट गाजियाबाद में वर्षा ऋतु में दाह-संस्कार में बड़ी कठिनाई पड़ती थी। १९४४ में लालाजी ने अपनी ओर से हिंडन नदी के किनारे एक शेड का निर्माण कराकर इस समस्या का समाधान किया।

आचार्य शांतिसागर जी महाराज के संघ के बाद दिल्ली और आस-पास के क्षेत्र में किसी दिगम्बर जैन-साधु के चरण नहीं पड़े थे। सन् १९४८-४९ में लालाजी ने श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के सुदीर्घ विहार का आयोजन किया। इस विहार का व्यय लालाजी ने पं० चन्द्रमौलि जी शास्त्री को अपनी ओर से उनकी सेवा में नियुक्त करके पूज्य वर्णी जी के संघ का विहार बरुवासागर से सोनागिरि, ग्वालियर मुरार, मुरेना, राजाखेड़ा, आगरा, मथुरा, अलीगढ़, हाथरस, मेरठ, मुजफ्फरनगर, सहारनपुर, सरसावा, खतौली, बड़ौत वगैरह होते हुए दिल्ली तक कराया। उसके बाद तो आचार्य नेमिसागरजी, आ० सूर्यसागरजी, विद्यानन्दजी महाराज आदि त्यागियों के इस ओर आगमन का क्रम चल निकला।

आचार्य नमिसागरजी महाराज के विहार के कारण दरियागंज, दिल्ली में जैन महिलाश्रम की स्थापना हुई। मोदीनगर में जैन मंदिर बना और इन सब कार्यों में लालाजी का योगदान बराबर रहा।

इसी दौरान वीर सेवा मंदिर, सरसावा से दिल्ली आया। लाला जी ने इस संस्था का मुख्य कार्यालय व पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार, पं० दरबारीलालजी कोठिया आदि विद्वानों को कई वर्ष तक अपने

यहाँ पर रखा। बाद में उसका अपना भवन बन गया, और वह वहाँ स्थानांतरित हो गया।

सन् १६५० में शाहदरा के निकट भूगर्भ से एक जैन मूर्ति निकली थी। सरकार ने उसे अपने अधिकार में ले लिया था। स्थापत्य विभाग की सहायता से लालाजी ने उसे वापस प्राप्त करने में सफलता पाई और उसे शाहदरा के जैन मंदिर को दे दिया।

१६५०-५१ के आस-पास सर्वप्रथम आचार्य तुलसी दिल्ली आये। समाज में उस समय वैमनस्य का बाजार गरम था। फलस्वरूप किसी ने भी उन्हें ठहरने की सुविधा प्रदान नहीं की। तब लालाजी ने उन्हें अपने निवास स्थान पर ठहराया, उनका प्रवचन कराया और बाद में उनका तथा स्थानकवासी सम्प्रदाय का समझौता कराया।

सर्व प्रथम श्री कान जी स्वामी सोनगढ़ (गुजरात) से १६५७ में दिल्ली पधारे थे। उस समय जो स्वागत-समिति गठित हुई उसके अध्यक्ष लालाजी ही थे।

पूर्वजों की इच्छा का सम्मान :

लालाजी के पिता श्री रंगीलालजी का देहावसान दिल्ली में सन् १६२५ के लगभग हुआ था। उनकी अन्तिम इच्छा थी कि कहीं पर जैन मंदिर का निर्माण अवश्य करें। यदि ऐसी स्थिति न हो तो कहीं पर एक मूर्ति प्रतिष्ठित कराकर विराजमान करें। लालाजी ने पिताजी की इस शुभ इच्छा की पूर्ति के लिए एक मूर्ति सन् १६४४ में अम्बाला प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित करा ली थी। बाद में यह मूर्ति खतौली (जिला मुजफ्फरनगर) के पास भैंसी गाँव में कोई मंदिर न होने के कारण वहाँ समर्पित कर दी थी, और वह वहाँ मंदिर के बनने से वहीं पर विराजमान हैं।

मंदिर व धर्मशाला का निर्माण :

१६३६ में लालाजी ने कोठी नं० १ दरियागंज, डा० व श्रीमती अन्सारी के उत्तराधिकारियों से ५,००,००० पांच लाख रुपये में खरीद ली और उसका एक भाग मंदिर और धर्मशाला बनाने के लिए अलग कर दिया। १३ मार्च १६५० ई० को उसी भूमि से लगती हुई ६१ वर्ग गज भूमि दिल्ली इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट से इस जमीन के साथ संलग्न करने के लिए और खरीद कर ली।

लालाजी दिल्ली के लिए वर्णीजी का संघ विहार करा रहे थे। दरियागंज में किसी भी कुएं का जल मीठा नहीं था। अतः १६४६ के शुरू में उपरोक्त भूमि में, जो मन्दिर और धर्मशाला के लिए सुरक्षित रखी गई थी, एक नल-कूप खोदने का निश्चय किया गया तथा उस नलकूप का शिलान्यास पूज्य वर्णीजी के सान्निध्य में ११ सितम्बर १६४६ ई० तदनुसार असोज कृष्णा ४ को किया गया। इस स्थान पर मंदिर और धर्मशाला के निर्माण हेतु एक भवन-मानचित्र दिल्ली नगर-पालिका को विधिवत् प्रस्तुत किया गया, जो ८-६-५० को स्वीकृत हो गया।

संयोग की बात है कि जिस समय कुएं का निर्माण हो रहा था और मन्दिर एवं धर्मशाला की नींव खुद रही थी, उस समय भारत के प्रसिद्ध इतिहासकार डा० कालीदास नाग कलकत्ता से दिल्ली पधारे हुए थे। और लालाजी के पास ही ठहरे हुए थे। उन्होंने सुझाव दिया कि इस मन्दिर का नाम अहिंसा मंदिर रखा जाये। उनके इस सुझाव पर मंदिर का नाम "अहिंसा मंदिर" रखा गया।

उन्होंने इसी स्थान पर निजी व्यय से एक शिखरबंद मंदिर का निर्माण कराया, जहाँ पर ६ फुट ऊँची भगवान महावीर की पद्मासन मूर्ति कमल पर विराजमान है। इस मन्दिर में भगवान महावीर की जीवन झांकियां भी रंगीन चित्रों में दर्शाई गई हैं।

मन्दिर एवं धर्मशाला का निर्माण सन् १६५० ई० में शुरू हुआ था और सन् १६६७ तक चलता रहा। दरियागंज में दर्शन-पूजनार्थ इस समय तक केवल जैन अनाथाश्रम, लाला उलफतरायजी का चैत्यालय अथवा दिल्ली गेट का मन्दिर उपलब्ध था। लालाजी के आस-पास के रहने वालों को दर्शनार्थ बहुत दूर जाना पड़ता था। अतः १३ सितम्बर १६५३ को लाला छदामीलाल जी द्वारा मोदीनगर प्रतिष्ठा के अवसर पर प्रतिष्ठित कराई हुई भगवान चन्द्रप्रभ की प्रतिमा श्री लाल मन्दिर से लाकर इस अहिंसा मन्दिर में विराजमान की। इससे इधर के रहने वालों को केवल देवदर्शन, पूजन, शास्त्रश्रवण की ही सुविधाएँ नहीं मिलीं। बल्कि समय-समय पर आचार्य नमि-सागरजी, मुनि आनन्द सागरजी, क्षुल्लक मनोहर वर्णीजी, मुनि विद्या-नन्दजी, श्री कांजी स्वामी, ब्रह्मचारी रतनचन्दजी मुख्त्यार, सरदार-

मलजी सिरोज, पं० राजेन्द्रकुमारजी न्यायतीर्थ मथुरा, पं० जगमोहन लालजी शास्त्री कटनी, पं० कैलाशचन्द्रजी वाराणसी, पं० दरबारी-लालजी कोठिया, पं० लालबहादुर शास्त्री, श्री ताराचन्द प्रेमी, बाबूलाल जमादार आदि के प्रवचन सुनने का भी सुअवसर मिलने लगा।

मन्दिर प्रतिष्ठा :

मन्दिर वाले भाग में १७ अप्रैल १९६७ को भगवान महावीर की कमल पर आसीन ६ फुटी प्रतिमा मुनि श्री विद्यानन्दजी, क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णीजी व श्री कांजी स्वामी के सान्निध्य में विराजमान की गई। जैन समाज के इतिहास में यह पहला अवसर था, जबकि दि० जैन मुनि व श्री कांजी स्वामी एक जगह एकत्रित हुए हों।

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा भगवान महावीर के कैवल्य प्राप्ति दिनांक वैशाख शु० दशमी अर्थात् १९ मई १९६७ को संपूर्ण हुई। इस प्रतिष्ठा के अवसर पर मुनि श्री विद्यानन्दजी, क्षुल्लक श्री पूर्ण सागरजी, आर्यिका श्री चन्द्रमतिजी व विद्यावतीजी आदि के अतिरिक्त भारत के सभी जैन प्रमुख विद्वान सम्मिलित हुए।

धर्म में श्रद्धा रखने वाले अनेक गृहस्थियो व तपस्वियों को स्मरण होगा कि सन् १९५९ में दूधई, चंदेरी, बूढ़ो चंदेरी, जहानपुर, अहार, देवगढ़, गोलाकोट आदि धर्मस्थानों में बहुत-सी जैन मूर्तियाँ टूटी थीं लालाजी ने स्वयं आर्केलोजिकल डिपार्टमेंट के डिप्टी डायरेक्टर श्री डी० आर० पाटिल को अपने साथ ले जाकर उन ध्वस्त जैन मंदिरों व मूर्तियों का निरीक्षण करवाया और उन क्षेत्रों की सुव्यवस्था कराई।

विदेशी पर्यटकों द्वारा देवदर्शन :

सन् १९५३ में जापान से बौद्ध भिक्षुओं का एक दल दिल्ली आया था। उन लोगों ने भी इस मंदिर के दर्शन करके अपने को धन्य माना।

जो अजैन विद्वान या अधिकारी इस मन्दिर के दर्शनों को आते हैं उनको ट्रस्ट की ओर से भगवान महावीर की प्लास्टर आफ पेरिस की मूर्ति व भगवान महावीर सम्बन्धी पुस्तिका निःशुल्क भेंट की जाती है।

पुरातन आगमों की रक्षा :

दि० जैनों में षट्खण्डागम सिद्धान्त ग्रन्थ सबसे प्राचीन साहित्य में से है। भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट १२ अंगों से इस ग्रन्थ का साक्षात् सम्बन्ध है। इसी षट्खण्डागम ग्रन्थ की धवला और कषाय-पाहुड की जयधवला ये दो विस्तृत टीकाएं हैं। महाबन्ध, जिसे 'महा-धवला' कहा जाता है। षट्खण्डागम ही छटा खंड और सिद्धान्त ग्रंथ है। इनकी श्लोक-संख्या डेढ़ लाख प्रमाण है।

लालाजी के द्वारा सम्पादित जीर्णोद्धार कार्यों के लम्बे क्रम में इन अति प्राचीन जर्जर ताड़पत्रित धवल, जयधवल और महाधवल ग्रंथों का जीर्णोद्धार जैन धर्म तथा जन समाज की प्रतिष्ठा में एक ऐसा योगदान था जो न केवल अद्वितीय ही था, बल्कि यह एक ऐसा काम था जिसके कारण लालाजी जैन समाज के लिए चिरस्मरणीय रहेंगे। इन पूज्य शास्त्रों की पूजा-अर्चना व दर्शन करने के लिए जैन लोग मूडबद्री की यात्रा करते है। ये ताडपत्रीय प्राचीन ग्रन्थ लगभग १५०० वर्ष अपने ऊपर झेल चुके थे। सम्भवतः इसी कारण मूडबद्री के पुजारी-गण दर्शनार्थियों को असली ग्रन्थों के स्थान पर नकली ग्रंथों के दर्शन कराते थे।

लालाजी को ये बात खटकी, अपनी व्यवहार बुद्धि व अथक परिश्रम से उन्होने उन पुजारियों को इन्हीं धवलादि ग्रंथों के फोटो खिचवाने के लिए तैयार कर लिया। सन् १९५४ में इन ग्रन्थों के फोटो लिए गये। जिसकी योजना के विषय में पूज्य वर्णीजी ने अपनी जीवन गाथा, द्वितीय भाग, के पृ० ४५५ पर निम्न प्रकार लिखा है।—

"दिल्ली से राजकृष्ण भी आये। आपने मूडबद्री में स्थित श्री धवल के फोटो लेने का पूर्ण विचार कर लिया है। इस कार्य में १५००० रुपया व्यय होगा। आपका निश्चय है कि यह रुपया हम अपनी तरफ से लगा देंगे। आपका उत्साह और अदम्य साहस प्रशंसनीय है। संभव है आपकी प्रतिज्ञा पूर्ण हो जाये। क्योंकि आपकी भावना अति निर्मल है। हमारा निज का विश्वास है कि यह कार्य अवश्य पूर्ण होगा। संसार में जो दृढ़ प्रतिज्ञ होता है, उसके सर्व कार्य सफल होते हैं।"

मूडबद्री से लाकर ये ग्रन्थराज भी इस ही अहिंसा मंदिर में विराजमान किये गये, जिसका उल्लेख 'जैन सन्देश', 'जैन मित्र', 'जैन

गजट', 'वीर', 'जैन दर्शन' व अनेकान्त आदि पत्रों में तो हुआ ही, इनके अतिरिक्त १५ व १६ जून १९५४ के 'टाइम्स आफ इंडिया', 'हिन्दुस्तान टाइम्स' व 'हिन्दी हिन्दुस्तान' आदि पत्रों में भी हुआ।

सन् १९४७ में साम्प्रदायिक दंगों के समय 'अंजुमन तरक्किए उर्दू' के पुस्तकालय को दंगाइयों से भारी खतरा पैदा हो गया था। वह लालाजी की तुरन्त बुद्धि का ही फल था कि वह पुस्तकालय साफ बच गया। इसके लिए स्व० मौलाना अब्दुल कलाम आजाद ने भी लालाजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

लालाजी के कतिपय दान-कार्य :

बिना किसी धार्मिक या सांप्रदायिक विचार के लालाजी में अंजुमन तरक्किए उर्दू को दिल्ली में उर्दू यवन में एक कमरा बनवाने के लिए ५००० का चैक भेंट किया था, जिसका उल्लेख अंजुमन के पत्र 'हमारी जबान' मोरखा १६ अप्रैल १९४७ में किया हुआ है।

अर्थला ग्राम, तहसील गाजियाबाद में, सन् १९५२ में लालाजी ने आचार्य विनोबा भावे के महान भूमि-दान-यज्ञ में अपनी ओर से १५० बीघा भूमि दान दी।

पूअर हाउस दिल्ली, अन्ध महाविद्यालय सोसायटी फार प्रीवेन्शन आफ कुएल्टी टु एनिमल्स, हिन्द कुष्ट निवारण संघ, आर्य अनाथालय, डा० युद्धवीरसिंह होमियोपैथिक अस्पताल, भारतीय सुरक्षा कोष, गांधी स्मारक निधि आदि संस्थाओं में भी लालाजी ने दान दिया।

कुछेक साहित्यिक रचनाएं व उपलब्धियां :

लालाजी ने न केवल मनसा-वाचा कर्मणा समाज सेवा का अपना महान व्रत पूरा किया, बल्कि लेखनी से भी वह पीछे नहीं रहे। उनकी अनेकानेक रचनाएं 'जैन सन्देश', 'जैन मित्र', 'अनेकान्त', 'स्टेट्समैन' आदि में प्रकाशित हुई है।

सन् १९६३ में लालाजी ने, श्रवणबेलगोल और दक्षिण के अन्य जैन तीर्थ नामक एक पुस्तक लिखी। इसकी भूमिका नेशनल अर्काइव्ज के डिप्टी डाइरेक्टर जनरल श्री टी० एन० रामचन्द्रन ने लिखी।

लालाजी ने अपने ट्रस्ट से ग्रन्थराज समयसार के अतिरिक्त अध्यात्म-तरंगिनी, युगवीर-भारती आदि ग्रन्थ ही प्रकाशित नहीं कराये, परन्तु जैन पुराणों का संक्षिप्तीकरण कराकर 'हरिवंशकथा', 'तन से लिपटी बेल' (प्रस्तुत लेख के लेखक का प्रसिद्ध पौराणिक उपन्यास) प्रकाशित किया व 'मेरी भावना', 'पंच परमेष्ठी आरती' आदि के रिकार्ड बनवाये।

सर्व धर्म-प्रियता की साक्षी—एक मिशन :

श्री राजकृष्णजी के जीवन का क्रमबद्ध शतशत् घटनाओं में से कौन-कौन सी उल्लेखनीय हैं, इनका प्रथम दृष्टि में चयन करना सहज काम नहीं है, फिर भी लाला राजकृष्णजी के जीवन दर्शन का अन्तराल कितना विराट रहा है, उसका परिचायक एक दृष्टान्त यहाँ समीचीन मालूम पड़ता है। सन् १९४७ के भारत-विभाजन की घड़ियों में एक नई मानवता भारत में पनप रही थी। केवल पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान से ही लोग नहीं आ रहे थे, कुछ आदरणीय आत्माएं एक नया मिशन इतर देशों से भी लेकर आ रही थीं। इनमें एक कम्बोडिया के हाईकोर्ट के भूतपूर्व न्यायाधीश भी थे, जिन्होंने अवकाश लेते ही बौद्धधर्म की दीक्षा ली और सन् १९४७ में कश्मीर होते हुए भारत आये। आपने दिल्ली में महरौली के निकट खिरनी वाले बाग में एक स्थान भारत सरकार से अनुदान में लिया। वहीं आपने प्राकृतिक चिकित्सा की एक पीठ स्थापित की और बुद्ध विहार की नींव डाली।

लालाजी का सम्पर्क इन बौद्ध-भिक्षु श्री वो० धम्मवारा के साथ सन् १९४९ में हुआ। श्री धम्मवारा का मिशन आपकी आंखों से ओझल नहीं रह सका। आपने उन्हें आर्थिक सहायता ही नहीं दी, अपितु 'अशोक मिशन' नामक संस्थान की स्थापना में प्रचुर सक्रिय सहयोग भी दिया। यह कार्य अभी तक यथाविधि चला आ रहा है और भिक्षु धम्मवारा भी अभी सेवारत हैं।

राष्ट्रपिता की एक अमूल्य निधि की प्राण-रक्षा :

दरियागंज के नव-निर्माण के क्षणों में डा० अन्सारी की स्मृति सुरक्षित रखी गई है। नेताजी सुभाष रोड के मुख्य मार्ग के पीछे और जमुना धारा के समानान्तर डा० अन्सारी मार्ग चला गया है। इसी मार्ग पर नं० १ कोठी है, जहाँ भारत की स्वतन्त्रता के इतिहास का

निर्माण हुआ है। यहीं गांधी इर्विन् समझौते का सूत्रपात हुआ। यहीं पर युग के मनीषी लोक नेता आकर ठहरा करते थे। लाला राजकृष्ण जी ने इस मकान को खरीदकर पूर्णरूप से अक्षुण्ण रखा। ठीक इसी कोठी के पीछे गांधीजी को समाधि 'राजघाट' है। इस स्थान की महत्ता और स्वास्थ्य-वर्धक जल-वायु को देखते हुए भी लालाजी ने इसके प्रांगण में धर्मशाला, मंदिर, नर्सिगहोम, चिकित्सालय व शाकाहार होटल, की स्थापना की है। उनके स्वर्गवास के बाद यह भवन भी श्री राजकृष्ण जैन चेरिटेबल ट्रस्ट को सामाजिक कार्यों के लिए अर्पित कर दिया। अब इसका नाम श्रीमती कृष्णादेवी राजकृष्ण जैन स्मृतिगृह है।

हरिद्वार में कोई जैन मन्दिर नहीं था सन् १९५५ में जब डा० हीरालाल जी भगवान ऋषभदेव की निर्वाणस्थली कैलाश की यात्रा के लिए गये, तो सभी ने यह महसूस किया कि कैलास को जाने का मार्ग हरिद्वार होकर है, इसलिए हरिद्वार में एक जैन मन्दिर अवश्य बनना चाहिए। उनके न्यास द्वारा प्रयत्न करने पर उत्तर प्रदेश सरकार से उनके न्यास को एक जमीन मिल गई जहाँ मंदिर, धर्मशाला, वाचनालय का निर्माण कार्य चल रहा है।

इस ही प्रकार इस धर्मार्थ न्यास ने कुरुक्षेत्र में मन्दिर, धर्मशाला, औषधालय आदि के बनाने के वास्ते कुरुक्षेत्र विकास मण्डल के ब्रह्म-सरोवर के सामने ३००० वर्ग भूमि प्राप्त कर ली, जहाँ पर निर्माण कार्य चालू है।

लालाजी की एक पौत्री विजय जैन सन् १९५९ में पिलानी में अध्ययन कर रही थी उस समय उन्होंने देखा कि काफी शिक्षक व छात्र रहते हैं। कुछ जैन धर्मावलम्बी जो अपने आपको सरावगी कहते हैं वह कुछ देवदर्शन आदि की सुविधा न होने पर अन्य धर्म मानने लगे। उन्होंने प्रयत्न किया और उनके धर्मार्थ न्यास ने एक प्रतिमाजी वहाँ पर सन् ८१ में विराजमान कर दी और एक भूखण्ड वहां प्राप्त कर लिया है जहां पर जल्दी ही मन्दिर व धर्मशाला का निर्माण किया जाने वाला है।

उनकी स्मृति में मायसौर विश्वविद्यालय में १००००) दस हजार रुपये की राशी से श्री राजकृष्ण जैन शिष्यवृत्ति फन्ड की स्था-

पना की गई। जिसमें वहाँ जैन धर्म पढ़ने वालों को १००) मासिक छात्रवृत्ति दी जाती है।

मूडबिद्री (कर्नाटक) में श्रीमती कृष्णादेवी राजकृष्ण जैन धवलोद्धार गृह बनवाकर वहां के जैन मठ को अर्पित कर दिया इस गृह में ताडपत्रीय शास्त्रीय प्राचीन ग्रन्थ व रत्नमयी जिनविम्ब विराजमान है।

इसी प्रकार श्रवणवेलगोल में उनकी पुत्र वधु पद्मावती प्रेमचन्द जैन दिल्ली के नाम से भट्टारक गृह के नीचे एक वाचनालय व सरस्वती भवन का निर्माण कराया।

भगवान महावीर के २५सौवें निर्वाण वर्ष में इस न्यास ने भारतीय जेलों, भारतीय व विदेशी विश्वविद्यालयों को जैन साहित्य के अनेक ग्रन्थ भेंट किये।

विहार में सराक जाति वालों के लिए जलकूप बनवाकर उनको पानी की सुविधा प्रदान की। हस्तिनापुर में जम्बूद्वीप में भी एक चैत्यालय का निर्माण कराया।

श्रीमती कृष्णादेवी जैन लाला जी की धर्म पत्नी का स्वर्गवास वैशाख शुक्ल प्रतिपदा वीर निर्वाण सम्वत् २५०७ दिनांक २४ अप्रैल १९७९ को जम्बूद्वीप की प्रतिष्ठा के अवसर पर हस्तिनापुर में हुआ। उनका दाह संस्कार वहीं किया गया। वहां पर घास पर भूमि पर ही दाह-संस्कार होता था। कोई चबूतरा आदि नहीं था। काफी जीवों की हिंसा होती थी। उनकी स्मृति में वहां पर तीन पक्के चबूतरे दाह-संस्कार के लिए बनवा दिये गये।

इस धर्मार्थ ट्रस्ट को इस समय उनके पुत्र श्री प्रेम चन्द्र जैन पौत्र श्री भारतभूषण जैन एडवोकेट डा० देश भूषण जैन सर्जन व श्री धर्मभूषण जैन चार्टर्ड एकाउन्टेंट व अन्य ट्रस्टीगण सुचारु रूप से चला रहे हैं।

□□

प्रस्तुति

विद्वद्वर सिद्धान्ताचार्य पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री की यह पुस्तक 'भारतीय धर्म और अहिंसा' अनेक अर्थों में एक विशिष्ट और विलक्षण कृति है। अहिंसा, भारतीय विचार पद्धति, और विशेषकर जैन दर्शन तथा जैन जीवन-चर्या का मूलभूत सिद्धान्त है। इस विषय पर अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। जैनधर्म से सम्बन्धित कोई भी सम्मेलन हो, कोई भी आयोजन या संगोष्ठी हो जिसमे किसी भी वक्ता को धर्म या दर्शन पर कुछ बोलना हो, अहिंसा की धुरी पर ही उसके विचारों का चक्र घूमेगा। इसी बीज पर विषय का पादप पनपेगा, पल्लवित और पुष्पित होगा। महान आचार्यों ने अहिंसा पर जो चिन्तन किया है, मन वचन-काय की भूमिका पर इसे प्रस्थापित करके कर्मों के आस्रव, बन्ध और निर्जरा का जो व्यापक संसार रचा है, वह विश्व के समग्र दर्शन-शास्त्र, मनोविज्ञान और समाजशास्त्रीय अध्ययन में इतना अपूर्व और अद्‌भुत है कि भारतीय प्रज्ञा इससे गौरवान्वित हुई है। बड़ी बात यह कि अहिंसा-चिन्तन के इतने बड़े प्रसार को जीवन के साथ जोड़ने की कला भी जैन तीर्थंकरों और आचार्यों की देन है। अहिंसा के विचार और व्यवहार की गहरी छाप अन्य धर्म-प्रवर्तकों के चिन्तन और जीवन निर्देश में प्रतिबिम्बित है। ऋग्वेद के ऋषियों की ऋचाओं से लेकर गांधी, अरविन्द और विनोबा के वचनों प्रवचनों तक यह परम्परा चली है। अहिंसा-दर्शन राजनीति में सत्याग्रह के रूप में अवतरित हुआ और उसने इतिहास में चमत्कार उत्पन्न किया। अहिंसा के चिन्तन और प्रतिपादन में हिंसा का संदर्भ स्वभावतः आता है, किन्तु अब तक हिंसा के विद्रूप की लोमहर्षक, प्राणों को हिला देने वाली छवि आंखों से ओझल रखी गई है। कारण यह कि इससे अनेक धार्मिक सम्प्रदायों के ऋषियों और महापुरुषों की छवि धूमिल होती है। 'धूमिल' शब्द तो बहुत शिष्ट है—वास्तव में उनके द्वारा प्रतिपादित हिंसक विधान मुख पर कालिख पोत देता है।

सिद्धांताचार्य पंडित कैलाशचन्द्र जी ने अहिंसा के कल्याणकारी स्वरूप को तो दर्शाया ही है, उनका मुख्य विषय और ध्येय भी यही है, किन्तु उन्होंने साहस के साथ उन वीभत्स संदर्भों को और क्रिया-कांड तथा विधि-विधान की उन कुत्सित छवियों को उकेरा है जहां मनुष्य पशु से भी नीचे उतरकर इसी दुनियां में, इसी मानव समाज में नर्क को सशरीर उतार लाता है।

पंडितजी ने जब यह व्याख्यान श्री राजकृष्ण जैन चेरिटेबल ट्रस्ट द्वारा दिल्ली विश्वविद्यालय के अन्तर्गत स्थापित श्री राजकृष्ण जैन स्मृति व्याख्यान माला में विश्वविद्यालय के मंच से विद्वानों और बौद्धिक वर्ग के सामने प्रस्तुत किया तो श्रोताओं में बैठे-बैठे मैं इतना बेचैन हो गया कि मैंने चाहा कि कहूं—पंडित जी, इस प्रसंग को बन्द कर दें। मुझे डर था कि विवाद उठ खड़ा होगा और उस कर्मकाण्ड तथा विधिविधान को अपनी धार्मिक परम्परा का अंग मानने वाले विरोध करेंगे और कहेंगे कि जो बात प्रतीकों और अलंकारों में कही गई है, उसे पंडित जी स्थूल शाब्दिक अर्थों में प्रस्तुत करके धार्मिक परंपरा की निन्दा कर रहे हैं। किन्तु किसी एक भी विद्वान, एक भी श्रोता ने चूं नहीं की। कोई करता भी कैसे क्योंकि एक-दो संदर्भ हों तो प्रतीक खोजने का मानसिक श्रम किया जावे, यहाँ तो हिंसा के कुत्सित व्यापार की एक पूरी परम्परा और कड़ी से कड़ी जोड़ने वाले संदर्भों की एक पूरी शृंखला ही सामने आ गई। क्या किया जाये। पंडित जी ने विषय के प्रति न्याय करने के लिए कितना अध्ययन किया है, प्रमाण जुटाने में कितना श्रम किया है—देख सुनकर आश्चर्य होता है! रोंगटे खड़े कर देने वाले चित्रों का चितेरा किस प्रकार वाणी का कलाकार बनकर प्रणम्य हो जाता है, यह पंडित जी ने अपने व्याख्यान की उन दो संध्याओं में प्रमाणित कर दिया।

मैं समझता हूं, जब पंडित जी ने व्याख्यान का विषय निश्चित किया—'भारतीय धर्म और अहिंसा' तब उनके मन में विषय की सीमा इतनी ही रही होगी कि यह प्रतिपादित किया जाये कि आदि तीर्थंकर भगवान ऋषभनाथ के युग में अहिंसा का जो स्वरूप निर्धारित हुआ उसका ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य क्या था और फिर अहिंसा का स्वरूप वैदिक धर्म में पौराणिक युग की श्रमण संस्कृति में तथा बौद्ध

धर्म में वह क्या रहा। किन्तु, जब वह अपना भाषण लिखने बैठे तो अहिंसा के संदर्भ को आधुनिक युग के चिन्तन, समस्याओं, प्रश्नों, जीवन-पद्धति और सामाजिक परिप्रक्ष्य से जोड़कर व्याख्यायित करने की आवश्यकता को वह दृष्टि से ओझल नहीं कर सके। यही कारण है कि अहिंसा पर लिखी जाने वाली पुस्तकों में यह अद्यतन और अद्वितीय है। 'मांसाहार और शाकाहार', 'औषधि-उपचार और अहिंसा', 'गांधीजी और अहिंसा', 'विश्वशान्ति और अहिंसा', 'अहिंसा और वीरता में भेद', 'अहिंसा और शासकीय दण्ड विधान' आदि अनेक विषयों को मौलिक ढंग से उठाया है और अहिंसा के दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया है। तात्पर्य यह कि विद्वानों में पंडित कैलाशचन्द्र जी ऐसे हैं जिनका शास्त्रीय ज्ञान गहराई में तो विशिष्ट है ही, पंडित जी आधुनिक जीवन की समस्याओं से भी साक्षात्कार करते हैं और इसीलिए उनकी जैन दर्शन की व्याख्या आधुनिक युग के जिज्ञासुओं और श्रोताओं को आकर्षित करती है।

जैनधर्म में अहिंसा का स्वरूप क्या है—महाव्रत और अणुव्रत की भूमिका तथा स्वरूप क्या है, हिंसा के १०८ प्रकार क्या हैं आदि अनेक विषयों को सुबोध ढंग से समझाया गया है। विस्तार के साथ-साथ सारसंक्षेप भी देते गये हैं ताकि विवेचन हृदयंगम हो जाये। जैनी अहिंसा के मूल सिद्धांत (पृष्ठ १४१), गांधीजी द्वारा प्रतिपादित अहिंसा के सिद्धान्त (पृष्ठ १५४), जैनधर्म और बौद्ध धर्म की अहिंसा में तात्विक दृष्टिकोण का भेद (पृष्ठ ८६) आदि प्रसंग सार्थक हैं।

पुस्तक की शैली के विषय में दो शब्द कहना आवश्यक है। पंडित जी में यह कला है कि वह दुरुह से दुरुह विषय को सुलझा कर सामने रख देते हैं। पुस्तक में स्थान-स्थान पर रोचक कथा-प्रसंग पाठक को प्रमुदित करते हैं। पंडित जी का अध्ययन इतना व्यापक है कि वेद, पुराण, उपनिषद, महाभारत के संदर्भ सहजता से जुड़ते चले जाते हैं। उत्तररामचरित का वह प्रसंग यथा स्थान जुड़ गया है जहां बाल्मीकि के आश्रम में महर्षि वशिष्ट के पधारने पर उनके सत्कार में बछिया का वध किया गया है। वहां और दो शिष्यों का वार्तालाप चलता है :

'हां।'

"अच्छा, वशिष्ठ ऋषि आये हैं ?"

"हां, ?"

"मैंने तो समझा कि कोई व्याघ्र या भेड़िया आया है।"

"अरे क्या बकते हो।"

"उसने आते ही बेचारो कल्याणिका गौ को खा डाला।"

नाटक का यह अंश पंडित जी की शैली के कारण जीवित और सटीक हो गया है।

विद्वत्ता का गुण बौद्धिकता माना जाता रहा है। पंडित कैलाशचन्द्र जी ने 'इसमे रोचकता' का आयाम जोड़कर भी बौद्धिकता को अक्षुण्ण रखा है।

यह पुस्तक ऐसी है कि इसका अनुवाद यदि भारतीय भाषाओं में और विदेशी भाषाओं में किया जाये तो सांस्कृतिक जगत को पंडित जी की यह देन व्यापक रूप से प्रबुद्ध, प्रेरित और उपकृत करेगी।

नई दिल्ली
दशलक्षण पर्व, १९८३

—लक्ष्मीचन्द्र जैन
निदेशक, भारतीय ज्ञानपीठ

दो शब्द

भारतीय विद्या वस्तुतः वैदिक, जैन तथा बौद्ध परम्पराओं का समग्र रूप है। इसका सम्यक् अध्ययन किसी एक के अध्ययन से नहीं हो सकता है वरन तीनों के सम्मिलित अध्ययन एवं मूल्यांकन द्वारा ही भारतीय विद्या का विशद रूप देखा जा सकता है। भारतीय विद्या में विभिन्न कालों में जो विविध विचारों का उद्भव तथा विकास होता रहा है वह एक दूसरे के आलोड़न प्रत्यालोड़न अथवा विचार सरणियों में उत्पन्न आरोह अवरोह के फलस्वरूप ही हुआ है। यह परम्परा यद्यपि अपने इस विशद रूप में जीवित नहीं है तथापि भारतीय विद्या के अवगाहन क्रम में इन तीन धाराओं की चर्चा यदा कदा होती रही है। इस दिशा में न्यूनता एक ही देखी जाती है कि इसका सम्यक् अभिवर्धन एक स्थान में ही संतुलित रूप से नहीं हो रहा है।

पर यह एक प्रसन्नता की बात है कि स्वतन्त्रता के बाद भारत में अपनी अन्य विधियों में संग्रह के साथ-साथ समृद्ध सांस्कृतिक तथा अधिविद्य निधियों के संचयन में जागरुक हो उठे हैं। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सहयोग से कई विश्वविद्यालयों में स्नातक तथा स्नातकोत्तर कक्षाओं में संस्कृत, पालि एवं प्राकृत विद्याओं का अध्ययन अध्यापन तथा चिन्तन होने लगा है। दिल्ली विश्वविद्यालय का पद निक्षेप इस दिशा में दृढ़ कहा जा सकता है। यहां संस्कृत तथा बौद्ध-विद्या के स्वतन्त्र विभाग कार्यरत हैं। जैन विद्या विभाग की स्थापना का प्रश्न भी विचाराधीन है।

इस प्रसंग में जो अत्यन्त प्रसन्नता की बात है वह श्री राजकृष्ण जैन स्मृति व्याख्यान माला के आयोजन की है। स्वर्गीय श्री राज-कृष्ण जैन की पुण्य स्मृति में उनके योग्य पुत्र श्री प्रेमचन्द्र जैन द्वारा उक्त व्याख्यान माला का आयोजन किया गया है। तथा तत्काल जैन-विद्या के कुछ बिन्दुओं को जानने का अवसर मिल जाता है। प्रतिवर्ष जैन विद्या के भिन्न-भिन्न विद्वानों को आमंत्रित कर उनके भाषण

इलाहाबाद विश्व विद्यालय में है) जैन विश्व भारती लाडनू के सुयोग्य निदेशक डा० नथमल टाटिया तथा मैसूर विश्वविद्यालय में जैन विद्या के प्राचार्य (अवकाश प्राप्त) डा० कलघातगी सरीखे विद्वान अपने भाषण दे चुके है। इनमें से तीन को छोड़कर शेष सब के भाषण प्रकाशित हो चुके हैं। आशा है कि निकट भविष्य में वे भी प्रकाशित हो जायेंगे।

अहिंसा जिसे कि जैन धर्म में ही नहीं वस्तुतः समस्त भारतीय दर्शन में ही अत्यन्त महत्व दिया गया है और जिसे 'परमः धर्मः कहा गया उसकी सांगोपांग विस्तृत चर्चा प्रस्तुत पुस्तक में हुयो है। मान्यवर पण्डित जी अपने सजीव वर्णन तथा मनोरम शैली के लिए भी बधायी के पात्र हैं विषय के चयन से तो उनके भाषण महत्वपूर्ण हैं ही।

पुस्तक के पाठक के लिए शुभ कामना करता हुआ—

केव कृष्ण मित्तल
अध्यक्ष बौद्ध विद्या विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली-११०००७

पुरोवाक्

यह अत्यन्त हर्ष की बात है कि आदरणीय पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा श्री राजकृष्ण जैन स्मृति भाषण माला के अन्तर्गत अहिंसा जैसे अत्यन्त महत्व पूर्ण विषय पर बौद्धाध्ययन विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय में गत मार्च २५ एवं २६, १९८३ ई० को दिये गये भाषण "भारतीय धर्म और अहिंसा—एक अध्ययन" शीर्षक से प्रस्तुत पुस्तकाकार रूप में छपाये जा रहे हैं।

बौद्धाध्ययन विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय का यह गौरव है कि पिछले लगभग ९-१० वर्षों से प्रति वर्ष इसे श्री राजकृष्ण जैन स्मृति भाषण माला के अन्तर्गत जैन धर्म दर्शन के अनेक विषयों पर किसी न किसी मूर्धन्य विद्वान द्वारा भाषणों का आयोजन कर विश्व-विद्यालय के छात्र अध्यापक जिज्ञासुओं की ज्ञान-जिज्ञासा को शान्त करने का सुअवसर मिल रहा है। इस अवसर की व्यवस्था के लिए 'श्री राजकृष्ण जैन धर्मार्थ न्यास के संचालक लाला प्रेमचन्द्र जैन के हम आभारी हैं। इन भाषणों को छपाने की व्यवस्था कर अनेका-नेक सहृदय व्यक्तियों की विद्याक्षुधा की तृप्ति का सुअवसर जुटा जिस अतिरिक्त यश को अर्जित करने के वे अधिकारी बनते हैं उसके लिए उन्हें साधुवाद देने में हमें आनन्द का अनुभव होता है।

भाषणमाला की सरणि में पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री का सम्भवतः सप्तम योगदान है। इनसे पूर्व न्यायमूर्ति तुकोल (कर्नाटक उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद सुशोभित कर अवकाश प्राप्त) सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक एवं शिक्षा जगत के माने हुए विद्वान डा० दौलत-सिंह कोठारी (विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष पद को सुशोभित कर चुकने के पश्चात आज कल आप जवाहर लाल विश्व-विद्यालय के चांसलर हैं) प्राच्यविद्या के मूर्धन्य अध्येता डा० बाबू-लाल सक्सेना (आप इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुलपति पद को सुशोभित कर अवकाश प्राप्त हैं) डा० गोविन्दचन्द्र पाण्डे (जो कि राजस्थान विश्वविद्यालय के कुलपति पद को अलंकृत कर आजकल

द्वारा जिज्ञासुजनों के विद्यानुरागों की जिज्ञासा उत्पन्न होने में प्रेरणा दी जाती रही है। जिससे जैन विद्या की विभिन्न दिशाओं का उन्मेष होता है। तथा उन-उन दिशाओं में व्याप्त बहुमूल्य सामग्रियों का परिचय प्राप्त होता है। इसी क्रम में जैनविद्या प्राकृत के मूर्धन्य विद्वान तथा जैन आचार के जीवितरूप पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री के भाषण का आयोजन है। उन्होने भारतीय धर्म तथा अहिंसा नामक शीर्षक पर एक सुन्दर एवं वृहत निबन्ध लिख कर वैदिक बौद्ध तथा जैन धर्म में उपलब्ध सामग्रियों को प्रकाश में लाया है। लेखन क्रम में उन्होंने श्रमण शैली का अनुसरण किया है। जिसके अनुसार सर्वप्रथम विविध पर्यायों से हिंसा के स्वरूप का उद्‌घाटन कर उससे विरत होने की विद्याओं पर प्रकाश डाला है। साथ ही इन तीन धार्मिक परम्पराओं में अहिंसा का क्या स्वरूप है इस पर पूर्ण प्रकाश डाला है। आधुनिक युग जो भय से अक्रान्त है वह अहिंसा के पालन से कैसे लाभान्वित हो सकता है ? इसका भी वहां संकेत है।

यह निबन्ध बहुमूल्य सामग्रियों को प्रकाशित करते हुए उनके विचार के धरातल पर प्रतिष्ठापित कर मूल्यांकन करने की दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण है। आधुनिक स्वतंत्र जगत के लिए अहिंसा की अवधारणा एवं प्रयोग विद्या के प्रकाशक उद्‌बोधन रूप में निबन्ध अधिक से अधिक आवें यह प्रसन्नता की बात होगी।

इस निबन्ध के लिए मैं श्री राजकृष्ण जैन स्मृति व्याख्यान माला समिति के सदस्यों तथा पूज्य पण्डित कैलाशचन्द्र शास्त्री के प्रति कृतज्ञता सम्पृक्त साधुवाद समर्पित करता हूं।

महेश तिवारी
आचार्य, बौद्ध विद्या, बौद्ध विद्या विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

विषय-सूची

भारतीय धर्म और अहिंसा

एक अध्ययन

इसमें तो दो मत हो ही नहीं सकते कि अहिंसा भारत की देन है। भारत के महापुरुषों ने ही उसका आविष्कार करके उसे परम-धर्म माना और न केवल आदर्श के रूप में उसे सर्वोच्च स्थान दिया किन्तु व्यावहारिक जीवन का अंग बनाकर उसे इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय का कारण बतलाया। इतना ही नहीं किन्तु मानव जीवन के चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति का साधन भी उसे बतलाया था। यहां से अहिंसा का सन्देश भारत से बाहर के भी देशों में पहुंचा। अतः अहिंसा के विकास आदि का विवेचन करने के लिए भारतीय धर्मो का विहंगावलोकन करना उचित होगा।

भारतीय धर्मों में तीन धर्म प्रधान हैं—वैदिक धर्म, जैनधर्म और बौद्धधर्म। जैनधर्म के प्रवर्तक आद्य तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव थे। हिन्दू पुराण भी इस के समर्थक हैं। नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत की चर्चा प्रायः सभी हिन्दू पुराणों में आती है। मार्कण्डेय पु० अ० ६०, कूर्म पु० अ० ४१, अग्नि पु० अ० १०, वायु पु० अ० ३३, गरुड़पुराण अ० १, ब्रह्माण्ड पु० अ० १४, बाराह पु० अ० ७४, लिंग पुराण अ० ४७, विष्णु पु० अ० १ और स्कन्द पु० कुमार-खण्ड अ० ३७ में ऋषभदेव का वर्णन आता है। इन सभी में ऋषभ को नाभि और मरुदेवी का पुत्र कहा है। ऋषभ से सौ पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें से बड़े पुत्र भरत को राज्य देकर ऋषभ ने प्रव्रज्या ग्रहण की। इसी भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष पड़ा। यथा—

> नाभिस्त्वजनयत पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिः।
> ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥
> ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः।
> सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थितः॥
> हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधाः।

उक्त श्लोक थोड़े से शब्दभेद के साथ प्रायः उक्त सभी पुराणों में पाये जाते हैं। श्रीमद्भागवत में तो ऋषभावतार का पूरा वर्णन है, और उन्हीं के उपदेश से जैनधर्म की उत्पत्ति बतलाई है। यथा—

'बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मरुदेव्यां मा दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषीणामूर्ध्वमन्थिनां शुक्लया तनुवावततार '२०' स्क० पु० अ० ३१

उक्त कथन में वातरशन (नग्न) श्रमणों के धर्म से स्पष्ट ही जैनधर्म का अभिप्राय है क्योंकि आगे ऋषभदेव के उपदेश से ही आर्हत धर्म, (जैनधर्म) की उत्पत्ति बतलाई है।

भारत के राष्ट्रपति और प्रसिद्ध दार्शनिक स्व० डा० राधाकृष्णन् ने अपने भारतीय दर्शन के इतिहास (जि० १, पृ० १८७) में लिखा है—"जैन परम्परा ऋषभदेव से अपने धर्म की उत्पत्ति का कथन करती है। जो बहुत सी शताब्दियों पूर्व हुए है। इस बात के प्रमाण पाये जाते हैं कि ईस्वी पूर्व प्रथम शताब्दी में प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की पूजा होती थी। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि जैनधर्म वर्धमान और पार्श्वनाथ से भी पहले प्रचलित था। यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ और अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थकरों के नाम आते हैं। भागवत पुराण भी इस बात का समर्थन करता है कि ऋषभदेव जैनधर्म के संस्थापक थे।"

भागवत्कार ने ऋषभदेव जी का जो वर्णन किया है वह जैन मान्यता के ही अनुरूप है। वह योगी थे। उनका योग कर्मसंन्यास रूप था। जैनधर्म में कर्मसंन्यास रूप योग की ही साधना की जाती है। ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त सभी तीर्थकर योगी थे। मौर्यकाल से लेकर आज तक की सभी जैनमूर्तियां योगी के रूप में ही प्राप्त होती हैं।

योग की परम्परा अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक आर्य उससे परिचित नहीं थे। किन्तु सिन्धु घाटी सभ्यता योग से अछूती नहीं थी। योग शास्त्रों के अनुसार योग के लिए तीन वस्तुएँ आवश्यक हैं-आसन, मस्तक ग्रीवा और धड़ का सीधा रहना तथा अर्धनिमीलित नेत्र या नासाग्रदृष्टि। जैसा कि भगवद गीता में भी कहा है—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलास्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ।। (५, १३)

स्व० श्री रामप्रसाद चन्दा के अनुसार मोहेन्जोदड़ो से प्राप्त पत्थर की मूर्ति, जिसे मि० मैंके पुजारी की मूर्ति बतलाते थे, योगी की मूर्ति है ।

श्री चन्दा ने मार्डर्न रिव्यु जून १९३२ में एक लेख प्रकाशित कराया था । उसमें उन्होंने भारतीय धर्मों में योग की स्थिति का चित्रण करके लिखा है—सिन्धुघाटी से प्राप्त मोहरों पर बैठी अवस्था में अंकित देवताओं की मूर्तियां ही योग की मुद्रा में नहीं हैं किन्तु खड़ी अवस्था में अंकित मूर्तियां भी योग की कायोत्सर्ग मुद्रा को बतलाती हैं । मथुरा म्यूजियम में दूसरी शती की कायोत्सर्ग में स्थित एक वृषभदेव जिनकी मूर्ति है, इस मूर्ति की शैलो से सिन्धु से प्राप्त मोहरों पर अंकित खड़ी हुई देवमूर्तियों की शैली बिलकुल मिलती हैं ।······ ऋषभ या वृषभ का अर्थ होता है बैल और ऋषभदेव तीर्थंकर का चिन्ह बैल है । मोहर नं० ३ से पांच तक के ऊपर अंकित देवमूर्तियों के साथ बैल भी अंकित है जो ऋषभ का पूर्वरूप हो सकता है । शैवधर्म और जैनधर्म जैसे दार्शनिक धर्मों के प्रारम्भ को पीछे ठेलकर ताम्रयुगीन काल में ले जाना किन्हीं को एक अवश्य ही साहस पूर्ण कल्पना प्रतीत होगा । किन्तु जब एक व्यक्ति ऐतिहासिक और प्राग-ऐतिहासिक सिंधुघाटी सभ्यता के बीच में एक अगम्य झाड़ी झरवा होने की उससे भी साहसपूर्ण कल्पना करने के लिए तैयार है तो यह अनुमान कि सिन्धु मोहरों पर अंकित बैठी हुई और खड़ी हुई देव-मूर्तियों की शैली में घनिष्ट सादृश्य उस सुदूरकाल में योग के प्रसार को सूचित करता है, एक काम-चलाऊ कल्पना के रूप में मान लेने के योग्य है । और आध्यात्मिक सरणि पर पहुंचे विना योगाभ्यास करना संभव नहीं है ।

डा० राधाकुमुद मुखर्जी ने अपनी हिन्दू सभ्यता नामक पुस्तक में श्री राम प्रसाद चन्दा के उक्त मत को मान्य करते हुए लिखा है····· उन्होंने छः अन्य मोहरों पर खड़ी हुई मूर्तियों की ओर भी ध्यान दिलाया है । फलक १२ और ११८ आकृति ७ (मार्शलकृति मोहे-न्जोदड़ो) कायोंत्सर्ग नामक योगासन में खड़े हुए देवताओं को सूचित

करती है। यह मुद्रा जैन योगियों की तपश्चर्या में विशेष रूप से मिलती है। जैसे मथुरा संग्रहालय में स्थापित तीर्थंकर श्री ऋषभदेव की मूर्ति में। ऋषभ का अर्थ बैल जो आदिनाथ का लक्षण है। मुहर संख्या (F. G. H.) फलक दो पर अंकित देवमूर्ति में एक बैल ही बना है, संभव है यह ऋषभ का ही पूर्वरूप हो। यदि ऐसा हो तो शैवधर्म की तरह जैन धर्म का मूल भी ताम्रयुगीन सिन्धुसभ्यता तक चला जाता है। इससे सिन्धुसभ्यता एवं ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के बीच की खोई हुई कड़ी का भी एक उभयसाधारण सांस्कृतिक परम्परा के रूप में कुछ उद्धार होजाता है (हि० स० २३-२४)

सिन्धुघाटी सभ्यता वैदिक सभ्यता से भिन्न थी। दोनों में भेद होते हुए भी ऋग्वैदिक कालीन आर्य सिन्धुसभ्यता से परिचित थे ऐसा मत डा० राधाकुमुन्द मुखर्जी का है। उनका कहना है कि ऋग्वेद की सामग्री के सम्यक, पर्यालोचन से यह ज्ञात होगा कि उसमें जो अनार्यलोगों के और उनकी सभ्यता के उदाहरण हैं वे सिन्धु के निवासी जनों पर लागू हो सकते हैं।··· ··· ···अनार्यों अथवा भारतीय आदिम निवासियों के बारे में ऋग्वेद में भी बहुत सी सामग्री है। आर्येतरों को उसमें दास, दस्यु या असुर कहा है। इसमें अनार्य सभ्यताओं की कुछ सार्थक विशेषताओं का उल्लेख है जो सिन्धु सभ्यता की सूचक और उसके सदृश है। उदाहरण के लिए आर्येतर लोगों को, अपरिचित भाषा में वोलने वाला (मृध्रवाक), वैदिक कर्मों से रहित (अकर्मन) वैदिक देवों के न मानने वाला (अदेवयु) श्रद्धा और धार्मिक विश्वास से रहित (अब्रह्मन्) यज्ञों से शून्य (अयज्वन,) एवं व्रतों से रहित (अव्रत) कहा गया है। वे केवल अपने नियमों का पालन करने वाले (अपव्रत) थे। इन नकारात्मक संकेतों के अतिरिक्त एक निश्चयात्मक सूचना अनार्यों के विषय में यह भी दी गई है कि वे लिंगपूजक थे (शिश्नदेवा: ७-२१-५ (हि० स० पृ० १३२-३३)

ऋगवेद के दो सूक्तों में शिश्नदेवा : पद आया है। उसमें से प्रथम में (७-२१-५) इन्द्रदेव से प्रार्थना की गई है कि शिश्नदेव हमारे यज्ञ में विघ्न न डालें। दूसरे में (१०-९९-३) इन्द्र के सम्बन्ध में कहा गया है कि उसने शिश्नदेवों को चालाकी से मारकर शतद्वारों वाले दुर्ग की निधि पर कब्जा कर लिया। इससे स्पष्ट है कि शिश्नदेव वैदिक नहीं थे।

प्राय: सभी ने शिश्नदेव का अर्थ शिश्न को देवता माननेवाले अर्थात् लिंगपूजक किया है। किन्तु इसका एक दूसरा अर्थ भी होता है-शिश्नयुत देवता को मानने वाले। अर्थात् जो नंगे देवताओं को पूजते थे। सिन्धुघाटी से प्राप्त मूर्तियों को देखते हुए यही अर्थ ठीक प्रमाणित होता है क्योंकि मोहेन्जोदड़ो से प्राप्त योगी की मूर्ति तो नग्न है ही, किन्तु जिसे शिवजी की मूर्ति माना जाता है उसमें भी लिंग अंकित है। इस पर से यह अनुमान किया गया है कि मोहन्जोदड़ो के निवासियों में लिंग सहित शिव को पूजने की प्रथा थी।

मोहेन्जोदड़ो की तरह हड़प्पा से प्राप्त मूर्तियां भी नग्न हैं जिसमें एक शिव की मूर्ति मानी गई है और दूसरी को भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के तत्कालीन संयुक्त निदेशक श्री टी० एन० राम-चन्द्रन ऋषभ तीर्थंकर की मूर्ति मानते हैं। उन्होंने भी अपने एक लेख में शिश्नदेवा: का अर्थ नंगे देवता किया है। इस तरह सिन्धु सभ्यता से प्राप्त नग्न मूर्तियों के प्रकाश में ऋग्वेद के शिश्नदेवा: का अर्थ शिश्नयुत देव अर्थात् नग्नदेव कहना उचित प्रतीत होता है। जो उसके उपासक थे वे भी उससे लिए जा सकते हैं। यह अर्थ लिंगपूजकों में और लिंगयुत नग्नदेवों के पूजकों में समान रूप से घटित होता है।

यहां यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि अपने चिन्ह लिंग पूजा को लिए हुए शिव निश्चय ही अन-आर्य देवता है बाद में आर्यों के द्वारा उन्हें अपने देवताओं में सम्मिलित कर लिया गया। किन्तु लिंग पूजा का प्रचलन, आर्यों में बहुत काल के पश्चात् हुआ है क्योंकि भाष्यकार पतन्जलि ने अपने भाष्य में पूजा के लिए शिव की वय प्रतिकृति का निर्देश किया है शिव लिंग का नहीं। तथा चीनी यात्री ह्यूनत्सांग के यात्रा विवरण में शिव की मूर्ति का तो वर्णन है किन्तु लिंग पूजा का वर्णन नहीं मिलता। डा० भन्डारकर ने लिखा है कि (Wema Kadkkises) के समय में भी लिंगपूजा अज्ञात थी ऐसा लगता है, क्योंकि उसके सिक्के के दूसरी ओर शिव की मानव-मूर्ति अंकित है। जिसके हाथ में त्रिशूल है तथा बैल का चिन्ह बना है (शौ० वै० पृ०-१६४)

उक्त कथनों के प्रकाश में हमारा ध्यान ऋषभ और शिव की ओर जाता है। मोहेन्जोदड़ो और हड़प्पा से प्राप्त नग्न योगी की

मूर्ति जिसे श्री रामप्रसाद चन्दा और डा० रामचन्द्रन, ऋषभ की मूर्ति होने की संभावना व्यक्त करते हैं, तथा शिव की मूर्ति का पाया जाना और उस पर डा० राधाकुमुद मुखर्जी का यह लिखना कि यदि उक्त मूर्तियां ऋषभ का ही पूर्वरूप है तो शैव धर्म की तरह जैनधर्मका मूल भी ताम्रयुगीन सभ्यता तक जाता है, और इससे सिन्धुसभ्यता एवं ऐतिहासिक भारतीय सभ्यता के बीच की खोई हुई कड़ीका भी एक उभय साधारण सांस्कृतिक परम्परा के रूप में कुछ उद्धार हो जाता है, विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उभय शब्द से ऋषभ और शिव को लेने पर दोनों के मध्य एक साधारण सांस्कृतिक परम्परा का रूप सामने आता है, क्योंकि दोनों के कुछ बाह्य रूपों में, अधिक समानता है। ऋषभ देव का चिन्ह बैल है जो मोहेन्जोदड़ो से प्राप्त सील नं० ३ से ५ तक पर अंकित है तथा कार्योत्सर्ग मुद्रा में अंकित आकृतियों के साथ भी अंकित है। उधर शिव का भी वाहन बैल है। इधर ऋषभदेव का निर्वाण कैलाश पर्वत से माना जाता है, उधर शिव भी कैलाशवासी माने जाते हैं।

इस पर से यह कल्पना होती है कि दोनों का मूल एक तो नहीं है अथवा एक ही मूल पुरुष को दो परम्पराओं ने अपने-अपने रूप में स्वीकार तो नहीं किया।

डॉ० भण्डारकर शिव के साथ उमा के योग को उत्तरकालीन बतलाते हैं, उमा का नाम केन उपनिषद में आया है और उसे हैमवती-हिमवत् की पुत्री बतलाया है किन्तु शिव या रुद्र की पत्नी नहीं बतलाया है।

इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने के लिए वेदों की ओर आना होगा। ऋग्वेद में (२-३३-१५) रुद्रसूक्त में एक ऋचा है—

एव बभ्रो वृषभ चेकितान यथा देव न हृणीषे न हंसी।

हे वृषभ ऐसी कृपा करो कि हम कभी नष्ट न हों।

आगे चलकर वैदिक देवता रुद्र ने शिव का रूप ले लिया और वे पशुपति कहलाये। किन्तु तांडय और शतपथ ब्राह्मण में ऋषभ को पशुपति कहा है। यथा—

ऋषभो वा पशूनामधिपति (त० ब्रा० १४-२-५)

ऋषभो वा पशूनां प्रजापतिः (शत० ब्रा० ५, २-५-१७)

पशु शब्द का अर्थ शत० ब्रा० ६-२-१-२) में इस प्रकार किया है—

(अग्नि) एतान् पञ्च पशूनपश्यत् । पुरुषमश्वं गामविमजम् । यद-पश्यत्तस्मादेते पशवः ।।

अर्थात् अग्नि ने (प्रजापति ने) पुरुष, अश्व, गौ, भेड़, बकरी को देखा । क्योंकि इनको देखा, इसलिये ये पशु कहलाये ।

संस्कृत में देखना अर्थ वाली दृश् धातु के स्थान में 'पश्य', आदेश होता है । ब्राह्मण ग्रन्थों में पशु शब्द के अर्थ इस प्रकार पाये जाते हैं—

श्री वै पशवः (ता० ब्रा० १३-२-३)
पशवो यशः (शत० ब्रा० १, ८-१-३८)
शान्तिः पशवः (ता० ४-५-१८)
पशवो वै रायः (शत० ब्रा० ३, ३-१-८)
आत्मा वै पशुः (कौत्स्यब्रा० १२-७)

अर्थात् श्री, यश, शान्ति, धन, आत्मा आदि अनेक अर्थों में पशु शब्द का व्यवहार वैदिक साहित्य में हुआ है । अतः पशुपति का अर्थ हुआ—पूजा, श्री, यश, धन आत्मा आदि का स्वामी । और ऋषभ पशुपति है । इसी तरह महाभारत, अनुशासन पर्व में महादेव के नामों में शिव के साथ ऋषभ नाम भी गिनाया है । यथा—

ऋषभत्वं पवित्राणां योगिनां निष्कलः शिवः (अ० १४, श्लो० १८)

व्रात्य

वैदिक वाङ्मय की एक कठिन पहेली व्रात्य भी है । ऋग्वेद के अनेक मंत्रों में (१-१६३-८-१६-१४-२ आदि) व्रात्य शब्द आया है । यजुर्वेद तथा तैति० ब्रा० (३, ४-५-१) में व्रात्य का नाम नरमेध की बलि सूची में है अर्थात् नरमेध में जिन मनुष्यों का बलिदान किया जाता था उनमें व्रात्य भी थे । महाभारत में (५-३५-४६) व्रात्यों को महापातकियों में गिनाया है । किन्तु अथर्ववेद में व्रात्य का वर्णन बहुत प्रभावक है । अथर्व के पन्द्रहवें काण्ड का पहला सूक्त है—

व्रात्य, आसीदीयमान एव स प्रजापति समैरयत् ।

अर्थात् व्रात्य ने अपने पर्यटन में प्रजापति को शिक्षा और

प्रेरणा दी। एक व्रात्य का प्रजापति को शिक्षा देना अवश्य ही आश्चर्य-जनक है अतः सायण ने इसकी व्याख्या में लिखा है—

'कंचिद् विद्वत्तमं महाधिकारं पुण्यशीलं विश्वसम्मान्यं कर्मपरे ब्राह्मणैर्विद्विष्टं व्रात्यमनुलक्ष्य वचनमिति मन्तव्यम्।'

अर्थात् यहां किसी विद्वानों में श्रेष्ठ महाधिकारी, पुण्यशील विश्वपूज्य व्रात्य को लक्ष्य करके उक्त कथन किया है। जिससे कर्म-काण्डी ब्राह्मण विद्वेष करते थे।

यह व्रात्य कौन है यह आज भी अन्धकार में है। उक्त विशेषणों में अन्तिम विशेषण महत्वपूर्ण है। अथर्ववेद के १५वें काण्ड के सम्बन्ध में जर्मनी के डा० हावर ने लिखा है—ध्यानपूर्वक विवेचन के बाद मुझे स्पष्ट रूप से विदित हो गया है कि यह प्रबन्ध प्राचीन भारत के ब्राह्मणेतर आर्यधर्म को मानने वाले व्रात्यों के उस बृहत् वाङ्मय का कीमती अवशेष है जो प्रायः लुप्त हो चुका है (भा० अनु० पृ० १३)।

अथर्ववेद में मागधों का व्रात्यों के साथ निकट सम्बन्ध बतलाया है। अतः व्रात्यों को मागधवासी माना जाता है। तथा वैदिक उल्लेखों के अनुसार व्रात्य न तो ब्राह्मणों के क्रिया काण्ड को मानते थे, न खेती और व्यापार करते थे। अतः न वे ब्राह्मण थे ओर न वैश्य। किन्तु योद्धा थे धनुष वाण रखते थे।

मनुस्मृति (अ० १०) में लिच्छवियों को व्रात्य कहा है। सातवीं छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व में विदेह के पड़ोस में लिच्छवियों का वैशाली गणतंत्र था। ये लिच्छवि क्षत्रिय थे और मगध के निकट बसते थे। अन्तिम जैन तीर्थंकर भगवान महावीर की माता लिच्छवि गणतंत्र के प्रमुख राजा चेटक की पुत्री थी। बुद्ध ने लिच्छवियों और उनके गण-तंत्र की बड़ी प्रशंसा की थी। महापरिनिर्वाण सूक्त से ज्ञात होता है कि उनके अपने चैत्य और अर्हत् थे। उन चैत्यों और अर्हतों के अनु-यायी व्रात्य कहलाते थे (भा० इ० रू० पृ० ३४८ का पाद टिप्पण)।

श्री काशीप्रसाद जायसवाल ने (माडर्नरिव्यू १९२९ पृ० ४९९ में) लिखा है—'लिच्छवि पाटलीपुत्र के 'अपोजिट' मुजफ्फरपुर जिले में राज्य करते थे। वे व्रात्य अर्थात् अब्राह्मण क्षत्रिय कहलाते थे। वे गणतंत्र राज्य के स्वामी थे। उनके अपने पूजास्थान थे। उनकी अवैदिक पूजाविधि थी। उनके अपने धार्मिक गुरू थे। वे जैनधर्म और

बौद्धधर्म के आश्रयदाता थे। उनमें महावीर का जन्म हुआ। मनु ने उन्हें पतित कहा है।'

अथर्व काण्ड १५ के प्रथम सूक्त में आदि देव को व्रात्य कहा है तथा तीसरे सूक्त में विश्वव्रात्य एक वर्ष तक सीधा खड़ा रहता है। जैनों में ऋषभ देव को आदिदेव कहा जाता है क्योंकि वे प्रथम तीर्थंकर थे। तथा प्रव्रज्या ग्रहण करने के बाद छै मास तक वे कायोत्सर्ग मुद्रा में सीधे खड़े रहे थे और छह मास तक आहार के लिए भटकते रहे थे क्योंकि उस समय तक साधुचर्या से लोग अनजान थे। इस तरह एक वर्ष तक एक तरह से उन्हें खड़ा ही रहना पड़ा था। हम नहीं कह सकते कि इन दोनों की एकरूपता कहां तक सम्भव है किन्तु अथर्ववेद का १५वां काण्ड आज भी इस दृष्टि से शोध का विषय है।

हिरण्यगर्भ और ऋषभदेव

ऋग्वेद मं० १०, सू० १२१ की पहली ऋचा इस प्रकार है—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथ्वीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

इसमें कहा है कि पहले हिरण्यगर्भ हुए। वे प्राणीमात्र के एक स्वामी थे। उन्होंने आकाश सहित पृथ्वी को धारण किया। हम हविष के द्वारा किस देव की आराधना करें।'

तैत्तिरीय संहिता में हिरण्यगर्भ का अर्थ प्रजापति किया है। ऋग्वेद का उक्त कथन हिरण्यगर्भ की प्राचीनता को सूचित करने के साथ किसी व्यक्ति विशेष का सूचक प्रतीत होता है। उधर महाभारत शान्तिपर्व अ० ३४६ में हिरण्यगर्भ को योग का वक्ता कहा है यथा—

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः॥

अर्थात् हिरण्यगर्भ योगमार्ग के प्रवक्ता हैं, कोई अन्य उनसे पुरातन नहीं है। जैनों के प्राचीन पउमचरिउ में ऋषभदेव को हिरण्यगर्भ कहा है क्योंकि उनके गर्भ में आने पर हिरण्य की वृष्टि हुई थी। यथा—

गब्भयट्ठियस्स जस्स उ हिरण्यवुट्ठी सकंचणा पडिया।
तेण हिरण्णगब्भो जयम्मि उवगिज्जए उसभो॥

(पउम० ३-६८)

अर्थात् जिसके गर्भ में स्थित होने पर सुवर्ण की वृष्टि हुई इससे ऋषभ जगत में हिरण्यगर्भ कहे जाते हैं।

ऋषभदेव योगी थे, यह श्रीमद् भागवत के कथन से स्पष्ट है। अतः व्रात्य की तरह हिरण्यगर्भ की भी स्थिति चिन्त्य है। यहां इतना स्पष्ट कर देना उचित होगा कि योग के साथ अहिंसा का गहरा सम्बन्ध है। सच्चा पूर्ण योगी ही सच्चा पूर्ण अहिंसक हो सकता है। यह बात पातञ्जल योगदर्शन से भी पुष्ट होती है क्योंकि वही एक ऐसा वैदिक दर्शन है जिसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप यमों का वर्णन मिलता है। चूंकि सभी जैन तीर्थंकर योगी थे इसी से उन्होंने अहिंसा को परमधर्म कहा और उनमें सर्वप्रथम ऋषभदेव थे जो श्रमण परम्परा के आद्य प्रवर्तक थे।

डा० आर० जी० भंडारकर ने लिखा है—'प्राचीनकाल से ही भारतीय समाज में ऐसे व्यक्ति वर्तमान थे जो श्रमण कहे जाते थे। वे ध्यान में मग्न रहते थे और कभी-कभी मुक्ति का उपदेश देते थे जो प्रचलित धर्म के अनुरूप नहीं होता था।' (व० वा० मी० जि० १, पृ० १०) अस्तु।

डा० विन्टरनिट्स ने अपने भारतीय साहित्य के इतिहास में लिखा है—'अपनी प्राचीनता के कारण वेद भारतीय साहित्य में सर्वोपरि स्थित है। जो वैदिक साहित्य से परिचित नहीं है वह भारतीयों के आध्यात्मिक जीवन को नहीं समझ सकता।'

अतः हम प्रथम वेदों की ओर आते हैं।

वैदिक धर्म और अहिंसा

विद्वानों का कहना है कि आर्यजाति की एक शाखा ने भारत-वर्ष में प्रवेश करके एक नई समाज की स्थापना की थी। ये आर्य कब आये ? कहां से आये ? आदि विषयों को लेकर बहुत ऊहापोह हुआ है और उनके सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। उन सबके विवेचन की यहां आवश्यकता नहीं है। उस समाज का अपना साहित्य वेद था। और यज्ञ याग उसकी उपासना के स्तम्भ थे। उसका समस्त काल विभाग, समूचा ज्योतिष इन्हीं दैनिक, मासिक और वार्षिक यज्ञों के चारों ओर गुंथा हुआ था। जब ये यज्ञ पूर्ण होते थे तो उनके साथ ही उनका वर्ष भी पूर्ण हो जाता था। इसी से वैदिक साहित्य में यज्ञ और संवत्सर एक ही अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। इसी पर से स्व० लोकमान्य तिलक ने यह निष्कर्ष निकाला[1] है कि जैसे आज कल पारसियों के यहां सदा अग्नि प्रज्वलित रहती है वैसे ही वैदिक ऋषियों के घरों में सदा पवित्र अग्नि जलती रहती थी और वे उसमें यज्ञ किया करते थे तथा इन यज्ञों के द्वारा ही अपनी काल गणना किया करते थे। उनका कहना है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में जिन अनेक यज्ञों की विधियों का विस्तार से वर्णन मिलता है वे बाद में प्रचलित हुए हों यह सम्भव है किन्तु वार्षिक यज्ञ करने की परम्परा प्राचीन प्रतीत होती है। यज्ञ करने वाले पुरोहित के ऋत्विज नाम से भी इस पर प्रकाश पड़ता है। ऋतु+यज्=यानी ऋतु में यज्ञ करने वाला। अस्तु जो कुछ हो, इतना सुनिश्चित है कि वैदिक आर्यों की उपासना के स्तम्भ यज्ञ ही थे।

वेदों में सबसे प्राचीन ऋग्वेद है। उसकी ऋचाएं किसी एक ही समय की रची हुई प्रतीत नहीं होतीं। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कई शताब्दियों में उनकी रचना हुई है। उनके देखने से धर्म के किसी विकसित रूप की सुनिश्चित रेखा सामने नहीं आयी। हां, सोमयाग को करने के लिए आवश्यक होता, अध्वर्यु, उद्गाता और

---

१. 'ओरन' पृ० १२-१३

उनके सहायक पुरोहितों के कार्य विभाग को तथा अनेक देवताओं को उसमें खोजा जा सकता है। पहले कुछ विद्वानों का मत था कि ऋग्वेद में प्राथमिक धार्मिक चेतना के दर्शन होते हैं किन्तु अब यह मत मान्य नहीं है। तथापि उसके देखने से यह पता अवश्य चलता है कि उस समय यज्ञों का वैसा जोर नहीं था जैसा ब्राह्मणकाल में हुआ और भावात्मक देवताओं की कल्पना ने भी उस समय अधिक उन्नति नहीं की थी। ऋग्वेद की अधिकतर ऋचाएं सोमयाग सम्बन्धी विधिविधानों से परिपूर्ण हैं और अश्वमेध के सिवाय अन्य किसी पशुयाग का भी उल्लेख नहीं है। किन्तु ऋग्वेद के पुरुषसूक्त को लेकर कुछ विद्वानों का यह मत है कि इसमें प्राचीन नरमेध प्रथा का वर्णन है, क्योंकि शुक्ल यजुर्वेद में यही सूक्त पुरुष मेध के अर्थ में लिया गया है।

उसमें शुनःशेप की कथा आती है जो इस प्रकार है—

इक्ष्वाकुवंशी राजा हरिश्चन्द्र के सौ पत्नियां होते हुए भी पुत्र नहीं हुआ। उसने वरुण से प्रार्थना की कि मुझे पुत्र दो, वह पुत्र मैं आपको भेंट कर दूंगा। वरुण के वरदान से पुत्र हुआ। परन्तु राजा पुत्र को भेंट नहीं कर सका। अनेक बहाने बनाकर समय टालता रहा। अवस्था होने पर पुत्र बन को चला गया। देवताओं के कोप से राजा को उदर रोग हो गया।

वन में पुत्र रोहित ने अजूगर्त नाम के एक ब्राह्मण को देखा। उसके तीन पुत्र थे। रोहित ने सोचा कि इस ब्राह्मण से एक पुत्र खरीदकर पिता के पास भेज दूं। मेरे बदले उसे अर्पण करने से वरुण देवता प्रसन्न होंगे। तीन पुत्रों में से बड़े को तो पिता ने नहीं दिया, छोटे को माता ने नहीं दिया। मझले पुत्र शुनःशेप को रोहित ने खरीद लिया। राजा ने शुनःशेप को लेकर यज्ञ की तैयारी की। किन्तु शुनः शेप का वध करने वाला कोई मनुष्य नहीं मिला। नरपशु का वध करने के लिए कोई राजी नहीं हुआ। पिता अजुगर्त वहां हाजिर था। उसने मूल्य लेकर पुत्र को बेचा था। अतः और अधिक मूल्य देने पर वह खड्ग लेकर पुत्र को मारने के लिए तैयार हुआ। उस समय पुत्र ने देवताओं का आह्वान किया। जुदे-जुदे देवताओं के उद्देश से जुदे-जुदे ऋक् मंत्र उसके मुंह से निकलने लगे। (वे ऋक् मंत्र ऋग्वेद संहिता के पहले मंडल में पाये जाते हैं)। देवता प्रसन्न

हो गये। शुनः शेप के बन्धन टूट गये। अजुगर्त यह देख तुरन्त बोला कि बेटा शुनः शेप मेरे पास आ।

ऋत्विजों में से एक स्वयं विश्वामित्र थे। उन्होंने शुनः शेप को बन्धनमुक्त करके कहा—शुनः शेप तू इस पिशाच पिता के पास मत जा। मैं तुम्हें पुत्र रूप से स्वीकार करता हूं। मेरे पुत्रों में तू ही श्रेष्ठ गिना जायेगा।

विश्वामित्र के अनुग्रह से उसे जह्नुवंश का आधिपत्य और गाधिवंश का दैवकर्म का अधिकार प्राप्त हुआ।

इस उपाख्यान को बांचने से ऐसा सन्देह होता है कि उस समय नरयज्ञ प्रचलित था। इसी से कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि यह उपाख्यान पीछे से रचा गया है। उनका कहना है यदि नरयज्ञ प्रचलित होता तो शुन शेप को मारने के लिए मनुष्य के मिलने में कठिनाई न होती और न ऋत्विज विश्वामित्र शुनः शेप के बाप पर इतना क्रोध करते।

किन्तु जब हम ऋग्वेद की अपेक्षा अर्वाचीन संहिताओं और व्याख्याग्रन्थ ब्राह्मणों की ओर आते हैं तो हमें यज्ञ यागादिक का बहुत जोर शोर मालूम होता है। ऋत्विजों की संख्या भी १६-१७ तक पहुंच गई है। पशुयाग और सोमयाग बहुत पेचीदा हो गये हैं। ऋग्वेद के देवताओं के स्थान पर यज्ञों ने आधिपत्य जमा लिया है। और बेचारे देवताओं का कुछ भी प्रभाव नहीं रहा है। फलस्वरूप ऋग्वेद काल के कुछ छोटे मोटे देवता या तो लुप्त हो गये या नाम-मात्र के देवता रह गये हैं। केवल यज्ञदेवता ही एक ऐसे हैं जिन्हें सब मानते हैं। यह यज्ञकर्ता की इच्छा के आगे देवताओं को भी झुका सकते हैं। इसके सिवाय उस समय यज्ञ की सफलता मंत्रों के शुद्ध उच्चारण करने पर निर्भर है क्योंकि मंत्रों की शक्ति उनके उच्चारण में है, अर्थ में नहीं है।

इस तरह उत्तरकाल में याज्ञिक सम्प्रदाय का इतना जोर हुआ कि यजुर्वेद में यज्ञ में बलिदान किये जाने वाले प्राणियों में मनुष्य को भी सम्मिलित कर लिया गया। इस पुरुष मेध के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की विभिन्न धारणाएं हैं। उनमें से एक यह भी है कि वेदों में यह प्रथा भारत के आदिवासी अनार्यों की देन है। अस्तु।

शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि—'यज्ञ विष्णु था और वह बामन रूपी नर (बौना) था। बाद में धीरे-धीरे वह बढ़ता गया और उसका सर्वत्र प्रचार हुआ। इससे भी ऊपर लिखी बात का समर्थन होता है कि पहले यज्ञों का विशेष जोर नहीं था। बाद में धीरे-धीरे उनका जोर बढ़ा और सादे अग्निहोत्र से पुरुषमेध तक जा पहुंचा'[1]।

ऋग्वेद को पृथिवी का सबसे पुराना ग्रन्थ कहा जाता है। पहला मंत्र है—

अग्निमीडे पुरोहितम्, यज्ञस्य देवं ऋत्विजम् होतारं रत्नधातमम्।

अग्नि देवों का पुरोहित है, वही देवों को बुलाकर यज्ञस्थल में उपस्थित करता है। वही देवों का मुख है। उसमें हव्य अर्पण करने से वह देवों को पहुंचता है। अग्नि में आहुति देकर ही देवों को तुष्ट किया जा सकता है। अतः सभी देवों की उपासना अग्नि के ही द्वारा हो सकती है।

आज वेदानुयायिओं में वैदिक पूजा उठ गई है। यज्ञ यागादिक का चलन भी उठ गया है। अतः अग्नि का भी पुराना स्थान जाता रहा। किन्तु प्राचीन वैदिक आर्यों में अग्नि का बड़ा महत्व था और यज्ञ याग उसकी उपासना के मुख्य स्तम्भ थे। स्व० लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के मत का उल्लेख पहले किया गया है कि आर्य लोग पहले उत्तरी ध्रुव के पास रहते थे। जहां छै मास की रात्रि होती है वहां चौबीसों घंटे अग्नि सुलगती रहना आवश्यक था। उसके बिना रहना कठिन था। इसी से आर्य लोग अग्नि के महत्व को जानते थे। वे उसे सदा प्रदीप्त रखते थे। ऐसा करने से शीत और प्रकाश की समस्या हल हो जाती थी, किन्तु काल गणना की समस्या बनी ही रहती थी। स्व० लोकमान्य[2] तिलक का कहना है कि प्राचीन ऋषि यज्ञ सम्बन्धी कार्यों के लिए ही अपनी काल गणना करते थे और विभिन्न यज्ञों के द्वारा ही वे अपनी कालगणना[3] को सुरक्षित रखते थे। प्रत्येक प्रातः और सन्ध्या को, प्रत्येक पूर्णिमा और अमावस्या को तथा

---

१. भा० सं० और अहिंसा, पृ० २६ २. ओरन, पृ० १२

३. अग्न्याधेयप्रभृत्यथ मान्यजस्राणि भवन्ति यथैतदग्न्याधेयमाग्निहोत्रं दर्श पूर्णमासावाग्रमण मुदगयन दक्षिणायनयोः पशुश्चार्तुमास्यान्यृतुमुखे षड्होता बसंते ज्योतिष्टोम इत्येवं क्षेमप्रापणम्।

प्रत्येक ऋतु और अयन के प्रारम्भ में वे यज्ञ करते थे। जब इन यज्ञों की समाप्ति होती थी तब वर्ष भी पूर्ण हो जाता है। इसी से यज्ञ शब्द और संवत्सर शब्द का प्रयोग समानार्थक रूप में मिलता है। संहिताओं[1] में और ब्राह्मणों[2] में ऐसे अनेक वाक्य हैं जिनमें संवत्सर और यज्ञ शब्द का पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयोग किया गया है।

स्व० लोक मान्य तिलक का कहना है 'उक्त कारणों से मेरा विश्वास है कि जैसे आजकल पारसी पुरोहितों के यहां सदा अग्नि प्रदीप्त रहती है वैसे ही वैदिक ऋषियों के यहाँ बराबर अग्नि जलती रहती थी और वे उसमें उक्त क्रम से यज्ञ करके उनके द्वारा अपनी कालगणना सुरक्षित रखते थे। ब्राह्मण, ग्रन्थों में जिसे अनेक प्रकार के यज्ञों की विधियों का वर्णन मिलता है वे बाद की उपज हो सकते हैं किन्तु वार्षिक यज्ञ विधान की परम्परा प्राचीन प्रतीत होती है। ऋत्विज शब्द की व्युत्पत्ति (ऋतु यज्) यह बतलाती है कि प्राचीन समय में ऋतु और यज्ञों के बीच में एक निश्चित सम्बन्ध था। और जो बात ऋतु के सम्बन्ध में है वही वर्ष के सम्बन्ध में भी जाननी चाहिए। अत ऋत्विज केवल यज्ञ का कर्ता ही नहीं होता था बल्कि काल गणक भी होता था।……जब काल गणना के दूसरे साधनों का आविष्कार हो गया तो यज्ञ काल गणना से मुक्त हो गये और फलस्वरूप यज्ञों में भी स्वतंत्रतापूर्वक वृद्धि हो गई।'

स्व० लोकमान्य के गवेषणापूर्ण विचारों से सहमत होना धर्म बुद्धिवालों के लिए तो कठिन ही है। याज्ञिक पंडित तो यज्ञ का एक ही अर्थ करते हैं कि देवता के लिए किसी भी द्रव्य के त्याग करने का नाम यज्ञ है। इसमें तीन शब्द आते हैं—देवता, द्रव्य और त्याग। वेदों में इन्द्र, अग्नि, सोम, विष्णु, रुद्र वगैरह अनेक देवताओं के नाम आते हैं। इन सभी देवताओं के लिए किसी न किसी द्रव्य का त्याग करना पड़ता था। त्याग करने की क्रिया का दूसरा नाम आहुति है। और जो द्रव्य त्यागा जाता उसे द्रव्य कहते हैं। घी, चरु, दूध, दही पुरोडाश, पशुमांस, सोमरस आदि द्रव्य 'हवि' रूप से लिये जाते। जिस

---

१. 'यज्ञो वै प्रजापतिः, संवत्सर=प्रजापतिः' तैति० सं०

२. 'संवत्सरः प्रजापतिः। प्रजापतिर्यज्ञः। एतरे०

ग्रहस्थ के हित के लिए यज्ञ किया जाता उसे यजमान कहते हैं और जो यज्ञ कराता उसे ऋत्विज या याजक कहते हैं।

यज्ञ का प्रत्येक कार्य मंत्रोच्चारण पूर्वक होता। प्रत्येक कार्य के लिए मंत्र निश्चित थे। मंत्र तीन प्रकार के थे—ऋक्, यजु और साम। कोई ऋत्विक्, ऋक्मंत्र बोलता, कोई यजुमंत्र बोलता और कोई साम मंत्र गाता। बड़े-बड़े यज्ञों में इन तीन प्रकार के ऋत्विकों की आवश्यकता होती। ऋग्वेदी मुख्य याजक 'होता' कहा जाता क्योंकि वह ऋक्मंत्रों का उच्चारण करके यज्ञस्थल में देवताओं का आह्वान करता। जो अग्नि में आहुति देता वह अध्वर्यु कहा जाता, उसे ही यज्ञ के लिए 'हव्य' तैयार करना पड़ता। इन सब ऋत्विकों की देख-भाल के लिए उनकी भूल सुधार करने के लिए एक मुख्य ऋत्विक् होता उसे ब्रह्म कहा जाता। क्योंकि उस समय वेदवाक्य का दूसरा नाम ब्रह्म था। और जिनमें ब्रह्म वाक्यों का तात्पर्य बताया गया था वे ब्राह्मण कहलाते थे।

उपनयन, विवाह आदि कार्यों में जो हवन किया जाता है उसे वैदिक क्रियाकाण्ड में ग्रह्यकर्म अथवा स्मार्त कर्म कहते हैं। इनके सिवा एक दूसरी जाति का भी वैदिक कर्म था, उसे श्रौतकर्म कहते थे। अग्निहोत्र, अग्निष्टोम, अश्वमेध, राजसूय वगैरह यज्ञ श्रौत यज्ञ कहे जाते हैं।

अग्निहोत्र

विवाह होने के पश्चात् गृहस्थ अपनी पत्नी के साथ अपने घर में श्रौत अग्नि की स्थापना करता था। अग्नि स्थापन की क्रिया को अग्न्याधान कहते थे। अग्नि तीन प्रकार की होती थी—गार्हपत्य, आहवनीय और दक्षिणाग्नि। गार्हपत्य अग्नि ग्रहपति के प्रतिनिधि स्वरूप गिनी जाती। आहवनीय अग्नि देवताओं की अग्नि होती, उसमें देवता को अर्पण करने के लिए सभी द्रव्यों को आहुति दी जाती। दक्षिणाग्नि में पितरों को अर्पित द्रव्य का होम किया जाता।

अग्न्याधान के पश्चात् ग्रहस्थ को आहवनीय अग्नि में प्रतिदिन अग्निहोत्र करना पड़ता। प्रातःकाल में सूर्य को और सन्ध्याकाल में अग्नि को आहुति दी जाती। सूर्य और अग्नि दोनों ज्योतिस्वरूप हैं।

इन दोनों को आहुति देने से सभी देवता तृप्त हो जाते, क्योंकि सभी देवता ज्योति स्वरूप गिने जाते थे।

प्राचीनकाल में अग्नि का यह महत्व केवल वेद पंथी समाज में ही नहीं था। किन्तु दूसरे देशों और समाजों में भी था। ग्रीक और रोमनों में भी, जो कभी वैदिक आर्यों के जाति भाई थे, अग्नि-पूजा प्रचलित थी। प्रत्येक ग्रीक ग्रहस्थ के घर में अग्नि शाला होती थी और अग्नि की पूजा की जाती थी। जब ग्रीक लोग अपना देश छोड़ कर दूसरे देशों में जाते थे तो अपनी अग्नि को अपने साथ ले जाते थे। इसी तरह प्राचीन ईरानी भी अग्निपूजक थे। जिनके वंशज पारसी आज भी अग्नि को पूजते हैं।

इस अग्निपूजा के मूल को खोज करने वाले विद्वानों का कहना है कि यह क्रिया मनुष्य की प्राचीन स्थिति की सूचक है जब दियासलाई से वन्हि जलाने की सहूलियत नहीं थी और सदा घर में अग्नि बनाये रखने के सिवा दूसरा चारा न था। अग्न्याधान और अग्निहोत्र का मूल इसी से मिल सकता है। जो वस्तु अग्नि पर पकाई जाती उसका कुछ भाग अग्नि में डालने की रीति विशेष अवसरों पर कहीं-कहीं अब भी बरती जाती है। यही अग्निहोत्र है। इस सारे अग्नि होत्र का विकास ही आगे चलकर अनेक यज्ञों के रूप में हुआ।

दृष्टियाग

एक श्रौत यज्ञ का नाम दृष्टियाग है। जो ग्रहस्थ अपने घर में अग्नि की स्थापना करता था उसे प्रत्येक अमावस्या और प्रत्येक पूर्णिमा को एक दृष्टयाग करना पड़ता था। अमावस्या के दृष्टियाग को दर्शयाग और पूर्णिमा के दृष्टियाग का नाम पूर्णमास याग था। दोनों की क्रिया लगभग एक सी ही थी।

पूर्णमास याग में मुख्य आहुति दो हैं। प्रथम आहुति अग्नि देवता के उद्देश्य से दी जाती है। आहुति में जो द्रव्य दिया जाता है, उसे पुरोडाश कहते हैं। यह पुरोडाश जौ अथवा चावलों को रोटी होती थी। उस पर घी चुपड़ा जाता था। फिर उसकी आहुति दी जाती थी। मुख्य याग के पहले और पीछे बहुत से छोटे मोटे याग और होम करने पड़ते थे। याग और होम में अन्तर है। याग में ऋत्विक् मंत्र पढ़कर देवताओं को बुलाता है। और मंत्रोच्चारण के बाद

'बषट्' शब्द का उच्चारण करता है। इस बषट्कार के साथ ही अध्वर्यु अग्नि में आहुति देता है। होम एक छोटा रूप है। उसमें ऋत्विक् की जरूरत नहीं। अध्वर्यु ही अग्नि के पास बैठकर स्वयं ही यजुमंत्र पढ़ता है और मंत्र पढ़कर 'स्वाहा' शब्द का उच्चारण करके अग्नि में आहुति देता है।

यागों का क्रम इस प्रकार हैं--१. प्रयाजयाग – यह मुख्य याग के पहले किया जाता है। इसमें घी की आहुति दी जाती थी। पांच देवताओं के नामों से पांच आहुति दी जाती है। देवताओं का नाम सुनकर आपको आश्चर्य होगा क्योंकि वेदानुयायी भी उनके नाम भूल चुके हैं वे नाम हैं—समित, तनुनपात, इड, वर्हि और स्वाहाकार। २. पांच प्रयाजों के पश्चात् एक बार अग्नि के उद्देश्य से और एक बार सोम के उद्देश्य से घी की आहुति दी जाती है। ३. इसके बाद मुख्य यज्ञ शुरु होता है। पहले अग्नि के उद्देश्य से और फिर अग्नि और सोम के उद्देश्य से पुरोडाश की आहुति दी जाती। दोनों के बीच में अग्नि और सोम के उद्देश्य से घी की आहुति दी जाती। ४. इसके पीछे स्विष्ट कृत याग होता। यह स्विष्टकृत याग रुद्र देवता के उद्देश्य से किया जाता था। रुद्र तो अवैदिक देवता हैं पीछे से इन्हें भी वैदिक देवताओं में शामिल कर लिया गया है। इन्हें यज्ञ का भाग नहीं मिलता था। किन्तु इन्होंने जबरदस्ती से अपना भाग लिया। इसी से स्विष्टकृत याग प्रारम्भ हुआ। ५. अनुयाज याग—यह मुख्य याग के पीछे होता है। इस याग के तीन देवता हैं—वर्हि, नराशंस और अग्नि स्विष्टकृत,। आहुति घी की दी जाती है।

अनुयाज याग के पीछे पूर्णमास यज्ञ की मुख्य क्रियाएं प्रायः समाप्त हो जाती हैं।

पशुयाग

पशुयाग भी अनेक प्रकार का होता था। उनमें से एक पशुयाग आवश्यक था। उसका नाम निरूढ़ पशुबंध था। किन्हीं के मत से वर्ष में दो बार उत्तरायण और दक्षिणायन संक्रान्ति पर करना पड़ता था। यह पशुयाग अन्य सब पशुयागों का मूल रूप है अतः इसका विवरण जान लेने से सभी पशुयागों का साधारण ज्ञान हो जायेगा।

इष्टियाग में चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—अध्वर्यु, होता, ब्रह्ता और अग्नीत् । पशुयाग में दो मनुष्य अधिक होते हैं—एक अध्वर्यु का सहायक, जिसे प्रति प्रस्थान्तर कहते हैं और दूसरा होता का सहायक, जिसे मैत्रावरुण कहते हैं । इन छः ऋत्विजों की सहायता से पशुयाग प्रारम्भ होता था । इष्टियाग में यज्ञ की सामग्री रखने के लिए जो वेदी रहती उसमें पश्चिम में गार्हपत्य और पूर्व में आहवनीय अग्नि रहती । पशुयाग में इनके सिवाय एक दूसरी वेदी और होती है । उसका नाम पाशुक वेदी था । पाशुक वेदी पर पशुयाग के लिए आवश्यक सामान और आहुति का द्रव्य रखा जाता ।

पशु को बांधने के लिए यूप की जरूरत होती । यह यूप लकड़ी का एक खूंटा होता । यह खूंटा पाशुक वेदी की पूर्व दिशा में गाड़ा जाता । प्रत्येक काम अध्वर्यु को करना पड़ता और होता प्रत्येक कर्म के अनुकूल मंत्र पढ़ता । इस तरह यूप पशुबन्धन के योग्य होता । पशु के दोनों सींगों के बीच में डोरी बांधकर इस डोरी को यूप में बांधी गई रस्सी के साथ बाँध दिया जाता । इस तरह पशु के बाँधने के बाद उसके सिर पर घी चुपड़ा जाता । इसके बाद यज्ञ की तैयारी होती । मुख्य यज्ञ के पहले प्रयाज याग की विधि शुरू होती । इष्टियाग में तो केवल पांच प्रयाज होते हैं किन्तु पशुयाग में उनकी संख्या ग्यारह थी इन ग्यारह प्रयाज यागों में से प्रथम दस में घी की आहुति दी जाती । किन्तु अन्तिम में पशु के पेट की नाभि के पास का जो मेद है, जिसे "वपा" कहा जाता, उसकी आहुति दी जाती । अतः दस प्रयाजों के पूरा होने पर ग्यारहवें प्रयाज से पहले पशुबध की तैयारी करनी पड़ती ।

जो व्यक्ति पशुबध करता उसका नाम शमिता था । पाशुक-वेदि के उत्तर में पशुबध का स्थान रहता । वहां पशु के शरीर को पकाने के लिए अग्नि प्रकट की जाती । एक ऋत्विक, अग्नि की मशाल जलाकर पशु के चारों ओर फिराता । इसका उद्देश्य था कि राक्षस पशु पर आक्रमण न करें, क्योंकि राक्षस अग्नि से डरते हैं । इसी समय होता पशुबध करने के लिए शमिता को बुलाता । बुलाते समय एक मन्त्र पढ़ता जिसका भाव इस प्रकार है—

"इस काम[1] में इस पशु की मां अनुमति दे, पिता अनुमति दे, सहोदर, भाई अनुमति दे. इसके मित्र तथा साथी अनुमति दें। इसके ैर उत्तर दिशा में रहें, चक्षु सूर्य की ओर रहे, प्राण वायु का, जीवन आकाश का, कान दिशाओं का और शरीर पृथ्वी का आश्रय लें।

इसका चमड़ा इस तरह से अलग करो कि इसमें कहीं कटन न आने पाये। नाभि को काटने से पहले उसकी चर्बी निकाल लो। इसकी श्वांस बाहर न निकले। इसकी छाती इस तरह से काटो कि यह एक पर फैलाये पक्षी की तरह मालूम हो। आगे के पैर काटो। इसके कन्धे कछुवे की शक्ल में काटो। पिछला भाग ऐसा काटो कि उसे कोई हानि न पहुंचे। जंघाओं को करवीर की पत्ती की शक्ल में काटो। २६ पसुलियों को अलग अलग कर लो। सब को इस तरह बांट दो कि कुछ बाकी न रहे। विष्टा वगैरह गाढ़ने के लिये एक नाली खोदो। खून राक्षसों के लिये फेंक दो।...... ओ

अन्त में कहता है—"हे वधक ! इस पशु का घात करो, घात करो, अपाप, अपाप, अपाप। इस कर्म में जो सुकृत हो वह हमें अर्पण करो। जो दुष्कृत हो वह दूसरों को अर्पण करो।"

मन्त्रोच्चार के बाद मशालची मशाल लेकर आगे चलता है। शमिता डोरी पकड़कर पशु को ले चलता है। उसके पीछे प्रतिप्रस्थाता, अध्वर्यु और यजमान चलते हैं। वध स्थान में आकर अध्वर्यु भूमि पर एक कौली दर्भ डाल देता है। और यजमान तथा सभी ऋत्विक्, उस ओर से मुंह फेर कर बैठ जाते हैं, मानों इस

---

१. "अन्वेनं माता मन्यतां। अनु पिता। अनु भ्राता सगर्भ्यः अनु सखा स्वयूथ्यः। उदीचीना अस्य पदो निधत्तात्। सूर्यं चक्षुर्गमयतात्। वातं प्राणमन्व वसृजतात्। दिशः श्रोत्रम्। अन्तरीक्षमसुं। पृथिवी शरीरं। एकधाऽस्य त्वचमाच्छयतात्। पुरा नाभ्या अपिशसो वपामुत्खिदतात्। अन्तरेवोष्माणं वारयतात्। श्येनमस्य वक्षः कृणुतात्। प्रशसा बाहू। शला दोषणी कश्य पेवासा। अच्छिद्रे श्रोणा। कवषोरु स्त्रेकपर्णामस्यानूनं कृनुतात्। ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतात्। अस्त्रा रक्षयः ससृजतात्। वनिष्टमस्य मारविष्ट। उरूकं मन्यमाना: ने स्तोके तनये। रविता रवच्छमितार:। अध्रिगो समीध्वं सुशामि। समीध्वं। शमीध्वमध्रिग।"

—तैत्ति० ब्राह्म०

हत्याकर्म को वे देखना पसन्द नहीं करते। वध हो चुकने के बाद यजमान उसकी पत्नी और अध्वर्यु पानी से पशु को धो डालते। अध्वर्यु उसका पेट चीर कर वपा निकाल लेता। उसका सहायक प्रतिप्रस्थाता दो लकड़ियों की सहायता से उस वपा को उठाकर अग्नि पर तपाता। फिर उत्तर वेदी के बीच की आहवनीय अग्नि के ऊपर उसे पकड़े रहता। अग्नि के ताप से पिघल कर वपा अग्नि में टपकती अध्वर्यु उस पर घी डालता। विधि पूर्वक मंत्र पाठ के बाद इस वपा का थोड़ा भाग अग्नि में डालने के बाद प्रयाज याग पूर्ण हो जाता। और शेष भाग मुख्य याग के लिए रख लिया जाता।

पशु याग का मुख्य देवता इन्द्र और अग्नि है। प्रयाज याग के बाद अध्वर्यु उनके उद्देश्य से पहले वपा को आहुति देता। वपा की आहुति के बाद पुरोडाश की आहुति और अन्त में पशु के अंगों की आहुति दी जाती। पूर्णमास याग में तो मुख्य आहुति पुरोडाश की दी जाती थी किन्तु पशुयाग की आहुति का द्रव्य पशु की वपा और मांस होता। किन्तु यदि पशुमांस के साथ में पुरोडाश की आहुति न दी जाये तो पशुयाग सम्पूर्ण नहीं होता। वपा की आहुति के बाद एक ओर अग्नि में पशु के अंग प्रत्यंग पकाये जाते दूसरी ओर अध्वर्यु पुरोडाश याग करता।

पशु के सभी अंग आहुति योग्य नहीं माने जाते। हृदय, जीभ वगैरह ग्यारह अंग मुख्य देवता की आहुति के योग्य माने जाते थे। पशु का खून राक्षसों को मिलता। खून को यज्ञशाला से बाहर फेंक दिया जाता। जो शमिता पशु का बध करता वही छुरी के द्वारा पशु के अंगों को काटकर हांडी मे उन्हें पकाता था।

पुरोडाश की आहुति हो चुकने के बाद शमिता खबर देता कि पशु का शरीर पक गया है। तब अध्वर्यु मुख्य देवता इन्द्र और अग्नि के उद्देश्य से पशु के अंगों को आहुति देता। मांस पकते समय हांडी में चरवी का भाग ऊपर आ जाता। इस चरवी में दही और घी मिलाकर वनस्पति देवता के उद्देश्य से आहुति देने का रिवाज था।

मुख्य याग के पीछे स्विष्टकृत याग होता। जैसा पहले लिख आये हैं यह याग देवता के उद्देश्य से किया जाता। पशु के कुछ अंग इस याग के लिए निश्चित थे।

इसके बाद हविशेष का भक्षण होता। ऋत्विज लोग अपना-अपना भाग रखा जाते।

जिस वस्तु की आहुति दी जाती है उसके वाकी बचे भाग को हविशेष कहते हैं। जब तक हविशेष का भक्षण नहीं किया जाता तब तक यज्ञ पूर्ण और सार्थक नहीं होता। अग्नि होत्र में आहुति से जो दूध बचता है उसे पी जाना होता है। पूर्ण मास याग में सम्पूर्ण पुरोडाश को आहुति नहीं दी जाती, थोड़ा भाग बचा लिया जाता है। उसे यजमान और ऋत्विज खाते हैं। इसके लिये पुरोडाश के अनेक विभाग किये जाते हैं। इसी तरह पशुयाग में चूंकि पशुमांस की आहुति दी जाती है, अत. हविशेष मांस को खाना आवश्यक होता है। अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण में विस्तार से उन व्यक्तियों की तालिका दी है, जो यज्ञ में भाग लेने के उपलक्ष में मांस का भाग पाते हैं। हवि:शेष मांस में ३६ भाग किये जाते हैं और उनका बँटवारा इस प्रकार होता है। प्रस्तो ा[1] की जीभ के साथ दोनों जबड़े मिलते हैं, प्रतिहर्ता को गर्दन और ककुद (बैल के कन्धे पर उठा हुआ भाग) मिलता है। उद्गाता को छाती का भाग मिलता है, अध्वर्यु को कन्धे के साथ दाहिनी पार्श्व उपगाता को दाईं ओर का पार्श्व, प्रतिप्रस्थाता को बायाँ कन्धा, ब्रह्मा और रश्या की स्त्री को दाहिना नितम्ब,

---

१. अथात: सवनीयस्य पशोर्विभागं व्याख्यास्याम:। उदवत्यावदानानि, हनू सजिह्वे प्रस्तोतु:, कण्ठ: सकाकुद: प्रतिहर्तु:, श्येनं पक्ष उद्गातु:, दक्षिणं पार्श्वं सांसमध्वर्यो:, सव्यमुपगातृणां, सव्योंस: प्रतिप्रस्थातु:, दक्षिणा श्रेणि ब्रह्मण:, अवरसक्थं ब्राह्मणाच्छांसिन:, उरू पोतु:, सव्या श्रोणिर्होतु:, अवर सक्थं मैत्रावरुणस्य, उरूरच्छावाकस्स, दक्षिणा दोर्नेष्टु:, सव्या श्रोणि सदसस्य, सद चानूक गृहपते:, जाघनी पत्या:, तां सा ब्राह्मणेन प्रतिग्राहयति वनिष्टुर्हृदयं वृक्को चाङ्गुल्यानि, दक्षिणो बाहुराग्नीध्रस्य, सव्य आत्रेयस्य, दक्षिणौ पादौ गृहपतेर्व्रतप्रदस्य, सव्यौ पादौ गृहपत्न्या व्रतप्रदाया:, सहैवानयोरोष्ठस्तं गृहपतिरेवानुशास्ति, मणिर्जा स्कन्धास्तिलश्च कीकसा ग्रावस्तुत:, सिस्रश्चैव कीकसा अर्द्धंन्वापानश्चोन्नेतु:, अत उर्द्ध चमसाध्वर्यूणां, क्लोमा: शमयितु:, शिर: सुब्रह्मणस्य, यश्च सत्वानाहूयते तस्य चर्म, तथा खल षट्त्रिंशत सम्पद्यन्ते। षट्त्रिंशदवसाना गौ: षट्त्रिंशदक्षरा वृहती वार्हतो व स्वर्गो लोक:, वृहत्या वै देवा: स्वर्गलोके यजन्ते, वृहत्या स्वर्गे लोके प्रतिष्ठति, प्रतिष्ठति पूजया पशुभिर्य एवं विभजन्ते।

ब्राह्मण छंसी को········ पोता को उरु, होता को बांया नितम्ब, मैत्रा-वरण को······अच्छावक को बाईं टांग, नेष्ठा को दाहिनी बांह, सदस्य को बाईं बांह गृहपति को·········उसकी पत्नी को कूल्हा, जो उसे एक ब्राह्मण को दे देती है, वनिष्टा को हृदय, वक अग्नीध्र को दक्षिण की टांग और आत्रेय को बाईं आगे की टांग, यज्ञकर्ता गृहपति को दो दाहिने पैर, उसकी पत्नी को दो बायें पैर, और दोनों को सम्मिलित ऊपर का ओष्ठ, ग्रावस्तुत को गर्दन की तीन हड्डियां और मणिर्जाः, गाय ले जाने वाले को तीन हड्डियां और आधा अपान, चमसाध्वर्यु को मूत्राशय, शमयिता को······सुब्रह्मण को सिर, जो मनुष्यों को बुलौआ देता है उसे खाल। जो इस विभाग में सम्मिलित न होने का साहस करते हैं उनके लिये अनेक प्रकार के अपशब्दों का प्रयोग किया गया है। राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध जैसे बड़े यज्ञों में तो पशुवध एक अपरिहार्य अंग था, जो अवश्य करना ही पड़ता था।

तैत्तिरीय आरण्यक में लिखा[1] है कि अश्वमेध यज्ञ में १८० पालतू पशुओं का बलिदान करना चाहिए। जिनमें घोड़े, बैल, गाय, बकरे, हिरन, नील गाय वगैरह हों। ऐसे अवसरों पर बलिस्थान पर कुछ जंगली जानवरों को भी एकत्र करने का आदेश है। किन्तु अर्पण करने के बाद उन्हें बन्धनमुक्त कर देना चाहिए।

उक्त ब्राह्मण ग्रन्थ में एक और अनुष्ठान का उल्लेख है जिसमें मरुत देव को भेंट देने के लिए बहुत से पशुओं का बलिदान किया जाता था। इसे 'पंच शारदीय यज्ञ' कहते थे जैसे आज कल दुर्गापूजा का आयोजन होता है वैसे ही प्राचीनकाल में वैदिक आर्य इसे मानते थे। इस अनुष्ठान की मुख्य सामग्री थी ५ वर्ष की उम्र वाले, बिना ककुद के १७ नाटे बैल और तीन वर्ष की उम्र के १७ ही नाटे बछड़े। बैल[2] तो संस्कार करके छोड़ दिये जाते थे किन्तु बछड़े प्रतिदिन तीन के हिसाब से बलिदान किये जाते थे इस तरह यह उत्सव पांच दिन तक चलता था। अन्तिम दिन शेष दो बछड़ों का भी बलिदान कर दिया जाता था। वैदिक परम्परा के अनुसार इस यज्ञ का प्रारम्भ प्रजापति ने किया था। एक बार उसने धनी

---

१. अशीत्यधिकशतसंख्याकाः। पशव आलब्धव्याः। —तै० ब्रा०

२. वत्सतरोरेवालभरेन् उष्णो विसृजेयुः।

और स्वतन्त्र होने की इच्छा की। उसने 'पंच शारदीय' यज्ञ किया और वह धनवान तथा स्वतन्त्र हो गया। वेद में लिखा है कि जो कोई बड़ा होना चाहे उसे यह यज्ञ करना चाहिए।

आश्वलायन सूत्र में ऐसे अनेक यज्ञों का उल्लेख है। जिनमें पशुवध ही नहीं, किन्तु गो वध होता था। उनमें से गृह्यसूत्र में वर्णित एक यज्ञ खास तौर से उल्लेखनीय है—इसको 'सूल गौ' कहते हैं। यह शरद वसन्त में किया जाता था। इसके लिए ऐसी गाय चाहिए जो पीले रंग की न हो, जिस पर सफेद धब्बे हों, जो सर्वोत्तम हो. काले धब्बे भी हो सकते हैं, किन्तु जो भद्दी दिखाई न देती हो, बिल्कुल काली या नीली भी हो सकती है जिस पर लाल धब्बे हों, जैसे ही ऐसी गौ मिल जाती थी उसे ऐसे पानी से नहलाया जाता था जिसमें जौ और धान पड़े होते थे। उसे वैदिक मंत्र बोलकर महादेव रुद्र को भेंट कर दिया जाता था।

उसके बलिदान के लिए ऐसा स्थान पसन्द किया जाता था जो गाँव से बाहर, पूरब या उत्तर दिशा में हो, जहाँ से गाँव दिखाई न देता हो और न गाँव से वह जगह दिखाई देती हो। बलिदान का समय मध्यरात्रि था। कुछ के मतानुसार प्रातःकाल था।

आवश्यक प्रबन्ध हो जाने के बाद ब्राह्मण पुजारी मंत्रोच्चारण करता था। दो रस्सी होती थीं। एक रस्सी वध स्थान के चारों ओर बांध दी जाती थी और दूसरी रस्सी गौ के दाहिने सींग में बांध दी जाती थी। उसके बाद पद्धति के अनुसार गौ का वध कर दिया जाता था। उधर अग्नि पर भेंट पकती रहती थी। पूंछ, खाल, स्नायु और खुर तो अग्नि में फेंक दिये जाते थे, और खुर खून, जो एक बरतन में इकट्ठा कर लिया जाता था, कुशों पर फेंक दिया जाता था। सूत्र-कार का कहना है कि बलिदान के मांस को न तो गाँव में ही ले जाना चाहिए और न तो बच्चों को ही वहाँ जाने देना चाहिए। स्वस्त्ययन के बाद इसको प्रसाद रूप से खा लेना चाहिए। कुछ[1] का मत है कि नहीं खाना चाहिये।' और भी ऐसे अनेक यज्ञों का विधान है जिनमें गो मांस का उपयोग किया जाता था। 'अतिरात्र' यज्ञ

---

१. अस्य पशोः हतशेषं न प्राश्नीयात्। अन्यत्र इच्छातः प्राश्नीयात् वा।

कात्यायन[1] ने मरुत देव के लिये एक बांझ गौ का और प्रजापति के लिये काले रंग के धब्बेदार, बिना बधिया किये हुए १७ बैलों का बलिदान करना बतलाया है।

कविवर श्री हर्ष का नैषध काव्य एक अत्यन्त सुन्दर कृति है। उसके १७ वें सर्ग में कलि के निषध देश आने का वर्णन करते हुए निषध देश का वर्णन किया है। वह वर्णन यज्ञकालीन समय की दशा का जीवित चित्र है अतः उसके आवश्यक भाग का भाव यहाँ दिया जाता है उससे, यज्ञकालीन समाज का सजीव चित्र सामने आ जाता है।

कलिकाल बहुत समय के पश्चात् राजा नल की राजधानी के निकट पहुंचे। किन्तु उनके लिये नगरी में प्रवेश करना कठिन हो गया। क्योंकि वेद ध्वनि करते हुए श्रोत्रियों के शब्द उसके कानों में पड़ी होम के घी की गन्ध से उसकी नाक रुद्ध हो गयी, यज्ञ का धूम उसकी दोनों आँखों में भर गया और आँखें खोलना कठिन हो गया। अतिथियों के पद-जल से पिच्छलित हुए घरों के आँगनों में उसके पैर रखना कठिन था। यज्ञ की अग्नि की महती उष्मा से बेचारे की ऐसी दशा हुई मानों कुम्हार के आवा में जा पड़ा है। नगर में जगह-जगह यज्ञ के पशुओं को बांधने के लिये गड़े हुए यूप उसे ऐसे लगे मानों तीक्ष्ण कीले गड़े हुए हैं। कलि ने अपनी प्रिया हिंसा को वहाँ बहुत खोजा किन्तु उसे वह मूर्खों के मुख में भी दृष्टिगोचर नहीं हुई। गोमेध यज्ञ में बलिदान के लिये तत्पर गौ को देखकर कलि उसकी ओर दौड़ा, किन्तु वह हिंसा तो धार्मिक थी अतः वहाँ भी उसकी दाल नहीं गली। आगे उसने 'पुरोडाश'[1] को रखा देखा उसे देखकर वह बहुत घबराया। क्योंकि उसके आगे का भाग सूर्य के फण के आकार था। आगे ब्राह्मणों को मदिरा पान करते हुए देखकर कलि बहुत प्रसन्न हुआ। किन्तु जब उसने देखा कि वे ब्राह्मण सौत्रामणि यज्ञ कर रहे हैं (इस यज्ञ में मदिरा पान विधेय है) तो वह सिर धुनने लगा।

एक जगह उसने ब्राह्मण का वध करने वाले मनुष्य को देखा उसे देखकर वह बहुत सन्तुष्ट हुआ। किन्तु जब उसने देखा कि यह ब्रह्म घातक सर्वमेध नाम का यज्ञ कर रहा है तो उसे ज्वर-सा चढ़ आया,

---

१. टीकाकार ने 'पुरोडाश' का अर्थ पशु शरीर का भाग किया है। अतः पुरोडाश केवल अन्न का ही नहीं होता था ऐसा प्रतीत होता है।

क्योंकि सर्वमेध[1] में प्रत्येक जाति के एक-एक प्राणि की हिंसा करने का विधान है। तब कलि ने अपने मित्र जैन और बौद्ध साधुओं की खोज की क्योंकि वे वैदिक हिंसा के भी विरोधी हैं, किन्तु उसे जिन (बौद्ध) के बदले में तो अजिन-कृष्णमृग का चर्म दिखाई दिया और क्षपणक (जैन साधु) के स्थान में अक्षपण[2]-जुआ खेलने के पांसे दिखाई दिये। एक स्थान पर कलि ने एक कामुक को सजातीय, विजातीय, गम्या, अगम्या, सभी प्रकार की स्त्रियों को भोगते हुए देखा, उसे देखकर सन्तोष हुआ कि यहाँ मेरी दाल गलेगी। किन्तु उसे वाम[3]-देव मुनि के द्वारा हृष्ट ब्रह्म विद्या का उपासक जानकर उसे बहुत खेद हुआ।

अग्निष्टोम याग को देखकर उसे कष्ट हुआ। पौर्णमास याग को देखकर उसे मूर्छा आ गई और सामयाग को देखकर तो उसने अपना मरण ही समझा। एक जगह ब्राह्मणों को परस्पर का छुआ हुआ उच्छिष्ट खाते हुए देखकर उसे परम सन्तोष हुआ। किन्तु जब उसे मालूम हुआ कि हविशेष सोम भक्षण कर रहे हैं तो सिर धुनने लगा क्योंकि सोम में उच्छिष्ट नहीं माना जाता।

एक स्थान पर गौ को मारी जाती हुई देखकर हर्ष से उस ओर दौड़ा। किन्तु जब ज्ञात हुआ कि यह अतिथियों के लिये मारी जा रही है तो बेचारा अपना-सा मुंह लेकर लौट आया। आगे एक मनुष्य को आत्मघात करता हुआ देखकर कलि को बड़ा आनन्द हुआ। किन्तु जब उसे ज्ञात हुआ कि यह सर्वस्वार यज्ञ का कर्ता है तो उसे बड़ी व्यथा हुई। (जिसकी मृत्यु निकट होती है, जो असाध्य रोग से पीड़ित होता है वही इस यज्ञ का अधिकारी है। वह पशु मंत्रों के द्वारा अपना ही संस्कार करके तथा आत्मघात करके सर्वस्वार नामक यज्ञ में अपने को होम देता है।)

आगे महाव्रत[4] नाम के यज्ञ में एक ब्रह्मचारी को दुराचारिणी

---

१. सर्वमेधे हि तत्तज्जातीयैकैकप्राणिहिंसाधिकारात् 'ब्राह्मणो ब्राह्मणमालभेत' इति ब्रह्मवधस्य वैधत्वात्। नैष-१७ स, श्लो० १८६, टीका।

२. 'राजसूये यजमानो क्षैः दीव्यति' राजसूय यज्ञ में यजमान जुआ खेलता है ऐसी श्रुति है।

३. कामदेव्योपासने सर्वा. स्त्रिय उपसीदन्ति इति श्रुतिः।

४. महाव्रते ब्रह्मचारि पुंश्चल्योः संप्रवाद।

स्त्री के साथ मैथुन करते हुए देखकर मूर्ख कलि ने यज्ञ क्रिया को विटों का कर्म समझा। तथा अश्वमेध यज्ञ में यजमान की भार्या को अश्व के साथ सम्भोग करते हुए देखकर उस मूर्ख कलि ने समझा कि वेद किसी धूर्त की कृति है।

उक्त चित्रण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण काल में यज्ञों के नाम पर केवल पशुओं की ही हत्या नहीं की जाती थी, किन्तु कुछ यज्ञ ऐसे थे जिनमें मनुष्यों का भी बलिदान होता था। इतना ही नहीं, आश्चर्य की बात तो यह है कि ब्राह्मण का भी बलिदान एक यज्ञ में होता था। मनुस्मृति में तो सब कुछ ब्राह्मण के उपयोग के लिये ही ब्रह्मा ने रचा है, यही लिखा है, किन्तु यज्ञों के युग में जब ब्राह्मण भी नहीं बच पाया। ऐसा प्रतीत होता है कि सबके बलिदान को धर्म बतला कर भी यदि ब्राह्मण केवल अपने को बिल्कुल बचा ही लेते तो मनुष्यों में—विशेषकर क्षत्रियों से उसकी प्रतिक्रिया हुए बिना न रहती और तब यज्ञों की दुकानदारी जल्द ही फीकी पड़ जाती, क्योंकि अश्वमेध, राजसूय जैसे यज्ञ बहुव्यय साध्य थे और उन्हें राज-वर्ग ही करने की क्षमता रखता था। उनसे पुरोहितों को खूब दान-दक्षिणा मिलती थी। अतः सर्वमेध यज्ञ में एक ब्राह्मण का बलि-दान देकर भी यज्ञों के कारबार चलाने में ब्राह्मण समाज को लाभ ही लाभ था।

ऐसा लगता है कि धीरे-धीरे यज्ञ, हिंसा, शराब, जुआ और व्यभिचार के अड्डे बन गये थे। और चूंकि यह सब 'श्रुति' के नाम पर होता था इसलिये उनके विरुद्ध कुछ कह सकना कठिन ही नहीं, असम्भव था। ब्राह्मण वर्ग की तूती बोलती थी और राजन्यवर्ग उसके हाथ में था। अतः विरोध में आवाज उठाने की क्षमता किसी में न थी। किन्तु आज तो वैदिक कालीन क्रियाकाण्ड को सुनकर स्वयं वेदानुयायिओं को ही अचरज होता है कि क्या ऐसा भी सम्भव है। बंगाल के स्व० रामेन्द्र सुन्दर त्रिवेदी वेदों के गहरे अभ्यासी थे। उनके कितने ही लेखों को जर्मन विद्वानों तक ने मान्य किया था। उनको 'यज्ञ' पर व्याख्यान देने के लिये कलकत्ता विश्वविद्यालय ने आमंत्रित किया था। वे व्याख्यान यज्ञ रहस्य के नाम से मुद्रित हो चुके हैं। इष्टियाग और पशु याग का वर्णन कर चुकने के बाद (जो पहले दिया गया है) स्व० त्रिवेदी ने भाषण करते हुए कहा था—

इष्टियाग और पशुयाग का वर्णन सुनकर आपको श्रौत कर्मों पर श्रद्धा पैदा हुई कि नहीं, मैं नहीं कह सकता। आपको श्रद्धा हो या न हो, किन्तु एक समय ये सभी क्रियायें वेदानुयायी समाज में बड़ी श्रद्धापूर्वक की जाती थीं। आप हंसी में कहेंगे कि ये सभी क्रिया बुद्धि शून्य हैं, मनुष्य की प्रज्ञा उसकी स्वस्थ विचार शक्ति, किसी भी तरह उन सभी का समर्थन कर सके ऐसा सम्भव नहीं है। अंग्रेजी में जिसे रिलीजन कहते हैं, वह पूरी तरह से बुद्धि की मर्यादा के बाहर है। सुधरे हुए या उजड्ड जंगली समाज के लोग इस प्रकार के अनुष्ठानों पर श्रद्धा रखते हैं। अन्तर केवल मात्रा का है। किन्तु जो मानव तत्व की आलोचना करने के लिये तैयार हुआ वह मानव प्रकृति के इस अंश की आलोचना न करे यह सम्भव नहीं है। इसे आप मनुष्य की दुर्बलता मानते हों तो मानें, किन्तु इसे पाशविकता नहीं कह सकते। क्योंकि पशु ये सब अनुष्ठान नहीं करते। पशुओं में इस दुर्बलता के दर्शन भी नहीं होते। कोई भी पशु कोई भी धर्म नहीं पालता। यह मानवता है पशुता तो कभी भी नहीं है।"

वैदिक अनुष्ठानों की कितनी बड़ी आलोचना है, इससे अधिक खरी आलोचना और क्या हो सकती है? यदि त्रिवेदी जी वैदिक युग में इसका शतांश भी उनके विरोध में कहते तो पता नहीं उनकी कौन दुर्गति नहीं होती। अस्तु।

यज्ञों का लक्ष्य

याज्ञिकों के मतानुसार प्रत्येक मन्त्र का विनियोग किसी न किसी कर्म या अनुष्ठान में होता है। जिस मंत्र का उपयोग किसी कर्म में न हो उसकी सार्थकता ही क्या? अतः वेद मन्त्रों की सार्थकता बतलाने के लिये ही ब्राह्मण ग्रंथों की आवश्यकता हुई। किस मन्त्र का उपयोग किस क्रिया में होता है, उस क्रिया में उस मन्त्र की सार्थकता क्या है? दूसरे मन्त्रों को प्रयोग न करके अमुक क्रिया, अमुक मंत्रों का ही उपयोग क्यों किया जाता है, इन सभी बातों का वर्णन ब्राह्मण ग्रंथों में किया गया है। जिन ब्रह्मवादियों ने ब्राह्मण ग्रंथों का आविष्कार किया वे ऋषि माने जाते हैं। उन्होंने अपनी अन्तरप्रेरणा से ही मंत्रों का विनियोग और तात्पर्य समझा था। और समाज के कल्याण के लिए उसका प्रचार किया था। अतः जैसे मन्त्र वेद वाक्य माने जाते

वैसे ही ब्राह्मण ग्रन्थ भी वेद वाक्य माने जाने लगे। इसका फल यह हुआ कि वेदानुयायी समाज का मुख्य आधार ब्राह्मण ग्रन्थ हो गये। समस्त वेदानुयायी समाज ब्राह्मण ग्रंथों को वेद वाक्य मानने लगा। और उसी के अनुसार समाज की व्यवस्था करने लगा। ब्राह्मण[1] ग्रंथों में जो-जो विधि निषेध किये गये हैं वे ही वेदानुयायियों के धर्मशास्त्रों के भी मूलाधार हैं। यदि प्रचलित धर्मशास्त्र के किसी भी वाक्य के साथ ब्राह्मण ग्रंथों से विरोध आता हो तो धर्मशास्त्र का वह वाक्य अग्राह्य माना जाता है।

यहाँ यह बतला देना उचित होगा कि विभिन्न ब्राह्मण ग्रंथों के आविष्कर्ता ऋषियों में भी बहुत मतभेद था। एक ही अनुष्ठान के सम्बन्ध में जुदे-जुदे मत थे। अनुष्ठान की क्रियाओं में भी भिन्नता थी। यह सब होते हुए भी प्रत्येक ऋषि की उक्ति वेद वाक्य गिनी जाती है। अतः पंडितों को उनकी समानता बैठाने में बड़ी माथापच्ची करनी पड़ती थी। फलस्वरूप वेदवाक्य का तात्पर्य निश्चित करके कर्म की मीमांसा करने के लिये एक दर्शन शास्त्र की सृष्टि की गई जिसे मीमांसा दर्शन कहते हैं। इन सबका आलोड़न करके इतिहासज्ञों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि वेद वाक्यों की समानता बैठाने के लिये इस दर्शन ने जो नियम निर्धारित किये उसे वेदानुयायियों ने मान लिया। यज्ञ का स्वरूप बदलता रहा है और उसकी विधि में भी उलटफेर होता रहा है, इतना ही नहीं, परन्तु यजमान की भावना में भी परिवर्तन होता रहा है। अतः यज्ञ का उद्देश्य भी सदा एक नहीं रहा। उसे कम से कम दो भागों में तो विभाजित किया ही जा सकता है। पहले भाग में, देवता जिन चीजों से प्रसन्न हों वे सभी चीजें उसे अर्पण करके उसे प्रसन्न करना। मनुष्यों ने सोचा है कि जिन वस्तुओं से मनुष्य प्रसन्न होता है देवता भी उनसे प्रसन्न होंगे। अतः उसने देवताओं को भी घूंस देने की पूरी-पूरी व्यवस्था कर डाली। सम्भवतः वैदिक ऋषियों का विश्वास था कि बहुत से देवताओं को मांस बहुत प्रिय है। तभी तो किस देवता को किस पशु का मांस प्रिय है यह हरएक यज्ञ के लिए निश्चित था। अतः देवता को उसका खाद्य अर्पण करके उसकी

---

१. यज्ञ रहस्य, पृ० १५

प्रीति प्राप्त करना और उसके द्वारा अपना स्वार्थ साधन करना यह यज्ञ का उद्देश्य था।

दूसरे भाग में देवता के लाभ की दृष्टि से देवता को उपहार भेंट किया जाता था। जो उपहार दिया जा रहा है वह देवता को पसन्द है या नहीं, इस बात की परवाह न करके केवल यही भावना रहती थी हम अमुक वस्तु देवता को दे रहे हैं। क्योंकि हम उसके ताबेदार हैं। इसमें देवता को पसन्दगी या नापसन्दगी नहीं देखी जाती थी। अतः काम की वस्तु के बदले बेकाम की वस्तु अर्पण करने से भी कोई हानि नहीं थी। मोल लेकर हल्के मूल्य की वस्तु भी भेंट की जा सकती थी। मांस के बदले यदि जौ की रोटी दी जाये तो काम चल सकता था। इसका तात्पर्य इतना ही है कि देवता को सर्वस्व अर्पण करना चाहिए। जो प्रिय से प्रिय हो वह अर्पण करना चाहिये। परन्तु स्वार्थी मनुष्य न तो सर्वस्व अर्पण कर सकता है और न अपने को ही अर्पण कर सकता है। फलतः अपने बदले में दूसरी चीजें अर्पण करके पुण्य लूटना चाहता है।

एतरेय ब्राह्मण में एक जगह लिखा है कि जो यजमान सोमयाग की दीक्षा लेता है वह सभी देवताओं के सामने अपने आलम्मन के लिये तैयार होता है। अपने बदले में पशु को निष्क्रय करता है। इसका यह मतलब हुआ कि यज्ञ में जो पशु चढ़ाया जाता था वह यजमान का प्रतिनिधि था।

ऊपर यह लिख आये हैं कि हविःशेष भक्षण किये बिना कोई याग पूरा नहीं होता। अतः पशुयाग में पशु का मांस खाना पड़ता था। ऐसा पता चलता है कि पुराने समय में यह विवाद छिड़ा था कि सोमयाग के पहले अग्नि और सोम को जो पशु भेंट किया जाता है उसका मांस खाना चाहिये या नहीं? क्योंकि वह पशु यजमान का प्रतिनिधि होता है। यजमान उसे अपने बदले में भेंट करता है। अतः वह पशुमांस नरमांस गिना जाना चाहिये। और नरमांस का खाना कहाँ तक उचित है?

एतरेय ब्राह्मण में इस आपत्ति का निरसन किया गया है। उसका कहना है कि अग्नि और सोम की मदद से इन्द्र ने वृत्र का वध किया था। अतः इन्द्र ने सन्तुष्ट होकर अग्नि और सोमको यह वरदान

दिया था कि सोमयाग के पहले जो पशु भेंट किया जायेगा वह तुम्हें मिलेगा। अतः वह पशु देवता का भक्ष्य मात्र है, यजमान का प्रतिनिधि नहीं है।

इस तरह बदले में दूसरी वस्तु के भेंट का समर्थक होकर भी एतरेय ब्राह्मण प्रकृत-चर्चा पर तुरन्त अपनी भावना को बदल देता है क्योंकि हविःशेष का भक्षण किये बिना काम चल नहीं सकता था।

यज्ञ का उद्देश्य देवता को पसन्द करना रहा है। अतः यह स्वाभाविक है कि मनुष्य देवता को वही चीजें भेंट करे जिन्हें खिलाकर उसे प्रसन्नता होती है। अधिकतर ऐसा ही देखा जाता है। वैदिक-आर्य कृषि और पशुपालन का व्यवसाय करते थे। अतः वे देवताओं को दूध, दही, घी, जौ, चावल आदि भेंट करते थे। किन्तु पुरोहितों की दृष्टि में पशु और सोम भेंट करने का अधिक महत्व था। अतः वे जौं की रोटी को भी मांस के स्थान में हो गिनते थे।

एतरेय ब्राह्मण का कहना है कि—'यह जो पुरोडाश है उसी के लिये पशु का बलिदान किया जाता है। जिस जौं से पुरोडाश तैयार होता है उस पर जो बाल लगे होते हैं वे पशु के बाल हैं। जौं का छिलका पशु का चर्म है। जौं से जो रोटी बनती है वह मांस है। जो भाग फेंक दिया जाता है वह लोहू है।

जैन ग्रन्थों में लिखा है कि पहले वेद में हिंसा का विधान नहीं था। तीन वर्ष के पुराने धान्य से ही यज्ञ निष्पन्न होते थे। एक बार नारद और पर्वत में, जो गुरू भाई थे, 'अजैर्यष्टव्यम्' को लेकर विवाद खड़ा हुआ। नारद का कहना था कि गुरू जी ने 'अज' का अर्थ तीन वर्ष पुराना धान्य, जो बोने से उग नहीं सकता, बतलाया था। पर्वत का कहना था कि 'अज' का अर्थ बकरा बतलाया था। उसकी सत्यता की भी सब जगह धाक थी। अन्त में यह निर्णय हुआ कि राजा वसु की सभा में चला जाये और उसी से इसका निर्णय कराया जाये। दूसरे दिन राजा वसु की सभा में मामला उपस्थित हुआ और वसु ने गुरूपत्नी के आग्रह से गुरूपुत्र पर्वत के पक्ष में फैसला दिया तभी से धान्य के स्थान में पशु से यज्ञ करने की प्रथा चल पड़ी। महाभारत के अनुशासन[1] पर्व में भी लिखा है कि ऐसा सुना जाता है कि प्राचीन समय

---

१. श्रूयते हि पुराकाले नृणां व्रीहिमयः पशुः।
येनायजन्त यज्वानः पुण्यलोकपरायणाः ॥ ५६ ॥

में धान्यमय पशु स्वर्ग की इच्छा रखने वाले याजक यज्ञ किया करते थे।

उक्त कथा से मिलती हुई एक कथा भी महाभारत में है उसकी चर्चा आगे की जायेगी। ये सब बातें उस समय की प्रतीत होती हैं जब वैदिकी हिंसा के प्रति जनता में तीव्र असंतोष पैदा हो चुका था और वेदों की महत्ता कायम रखने की चिन्ता वैदिकों को त्रस्त कर रही थी। जहाँ तक ब्राह्मण युग के प्रभाव की बात है वहाँ तक तो हम पशुघात का ही प्राधान्य पाते हैं। इतना ही नहीं, मांसाहार का भी विशेष चलन दृष्टिगोचर होता है।

मांसाहार

मनु महाराज वैदिकों के पूज्य ऋषि और दण्ड विधाता माने जाते हैं। मनु के वचनों का अभिनन्दन 'ब्राह्मण' ने किया है। अतः सबसे प्रथम मनुस्मृति को ही लीजिये इसमें दोनों ही प्रकार की बातें देखने में आती हैं।

इसके श्राद्ध प्रकरण में प्रति मास प्रशस्त मांस से पितरों का श्राद्ध करने का विधान है। इसी प्रकरण में आगे उन मांसों को गिनाया है जिनके प्रदान से पितरों की तृप्ति चिरकाल तक होती है। लिखा है—मत्स्य के मांस से दो मास तक, हरिण के मांस से तीन मास तक, मेष के मांस से चार मास तक, पक्षियों के मांस से पाँच मास तक, छाग के मांस से छै मास तक, चित्र मृग के मांस से सात मास तक, एण (हरिण विशेष) के मांस से आठ मास तक, रुरु (हरिण विशेष) के मांस से नौ मास तक, जंगली सूअर और भैंसे के मांस से दस मास तक, खरगोश और कछुआ के मांस से ग्यारह मास तक दूध तथा खीर से एक वर्ष तक तथा वार्ध्रीणस[1] के मांस से बारह वर्ष तक पितरों की तृप्ति होती है।

आगे भक्ष्याभक्ष्य[2] प्रकरण में उन प्राणियों को गिनाया है जिनका मांस भक्षण करने के योग्य है। तथा लिखा[3] है कि यज्ञ के लिये और वृद्ध माता-पिता वगैरह के लिये ब्राह्मणों को शास्त्र विहित मृग-

१. श्वेत रंग का वृद्ध बकरा। २. अ. ५ श्लो. १६-१८।
३. अ. ५, श्लो २२-२३।

पक्षियों का बध करना चाहिये, क्योंकि पूर्वकाल में अगस्त ऋषि ने ऐसा किया है। तथा पूर्व में ऋषियों के द्वारा विहित यज्ञों में भक्ष्य मृग-पक्षियों के मांस से पुरोडाश तैयार किया जाता था।

आगे लिखा है कि द्विजातियों के भक्ष्याभक्ष्य का कथन करके अब मांस भक्षण की और त्याग की विधि बतलाते हैं- प्रोक्षित[1] (यज्ञ में संस्कृत) मांस खाना चाहिये। ब्राह्मणों को जब इच्छा हो तब अवश्य मांस खाना चाहिये। श्राद्ध और मधुपर्क में नियम से मांस खाना चाहिये और जब प्राणों पर संकट हो तो अवश्य मांस खाना चाहिये। क्योंकि ब्रह्मा ने प्राणों के लिये ही सब कुछ बनाया है। सब स्थावर और जंगम जीवका भोजन है।

इस तरह समस्त स्थावर और जंगम प्राणियों को खाने का उपदेश देकर भी मनुमहाराज ने इतनी दया की है कि वृथा पशुघात का निषेध किया है और लिखा है कि जो वृथा पशुघात करता है वह पशु के रोमों की जितनी संख्या है उतनी बार जन्म-जन्म में मारा जाता है। किन्तु यज्ञ में किया जाने वाला पशुवध वध नहीं है क्योंकि ब्रह्मा जी ने पशुओं को यज्ञ के लिये ही पैदा किया है। यज्ञ में मरकर पशु और यजमान दोनों उत्तम गति प्राप्त करते हैं। अतः वेद विहित हिंसा हिंसा नहीं है वह तो अहिंसा ही है। अतः मनु महाराज ने मधुपर्क में यज्ञ में और श्राद्धादि में ही पशुघात का विधान किया है, अन्यत्र नहीं।

इस प्रकार वेद विहित हिंसा को अहिंसा और 'प्राणस्यान्नमिदं सर्वं' का विधान करके मनु महाराज के हृदय में न जाने कैसे दया का ज्वार भाटा आ जाता है और वे उल्टा ही राग अलापने लग जाते हैं—

जो अपने सुखों[2] की इच्छा से अहिंसक प्राणियों का घात करता है वह इस लोक और परलोक में सुख नहीं पाता। जो प्राणियों को न मारता, न उन्हें कष्ट देता है और सबका हित चाहता है वह अनन्त सुख को प्राप्त करता है। प्राणियों का घात किये बिना मांस उत्पन्न नहीं होता। और प्राणिवध स्वर्ग का कारण नहीं है अतः मांस नहीं खाना चाहिये। जो पशुघात में अनुमति देता है, जो उसके अंगों को

---

१. अ. ५, श्लो.-२७-२८।

२. अ. ५, श्लो-४५-५१।

काटता है, जो उसका घात करता है, जो उसका क्रय-विक्रय करता है, जो उसे पकाता है, जो उसे परोसता है और जो खाता है वे सब घातक हैं। जो सौ वर्ष तक प्रति वर्ष अश्वमेध यज्ञ करता है तथा जो मांस नहीं खाता उन दोनों को पुण्य समान है। इस लोक में जिसका मांस मैं खाता हूं, परलोक में वह मुझे खायेगा' यही 'मांस' शब्द की निरुक्ति विद्वानों ने की है।' मांस भक्षण की बुराइयां और मांस की सराहना आदि करके भी मनु महाराज फिर विचल जाते हैं और लिखते हैं—'न तो मांस भक्षण में ही दोष है, न मद्य पीने में ही दोष है और न काम सेवन में ही दोष है। ये तो प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियां हैं। हां, यदि इनको छोड़ दे तो उसका महान् फल है।'

इन परस्पर विरोधी बातों को पढ़कर पाठक को यदि ऐसा प्रतीत हो कि उसका रचयिता कोई उन्मत्त पुरुष था तो कोई आश्चर्य नहीं है। एक ओर यज्ञ में प्राणिहिंसा को पुण्य दायक बतलाते हैं और जो विधिपूर्वक प्राप्त हुए मांस का भक्षण नहीं करता उसे २१ जन्म तक पशुयोनि में जन्म लेने का अभिशाप देते हैं। दूसरी ओर १०० वर्ष तक प्रतिवर्ष अश्वमेध करने का और मांस न खाने का पुण्य-फल बराबर बतलाते हैं। ऐसी स्थिति में कौन समझदार व्यक्ति अश्वमेध करेगा या पशुयाग करेगा। तथा यदि मांस भक्षण वगैरह में दोष नहीं है तो उसके त्याग से महाफल कैसा ? इस तरह की अन्य भी अनेक आपत्तियां खड़ी होती हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि मनुस्मृति में मांस भक्षण का प्रकरण प्रक्षिप्त है, किन्तु हमें तो मांसवर्जन और उसकी प्रशंसा का प्रकरण ही बाद में मिलाया हुआ जान पड़ता है अथवा मनुस्मृति की रचना ऐसे काल में हुई है जब जनता की रुचि अहिंसा की ओर नहीं थी, क्योंकि मनुस्मृति में जितना जोर मांस भक्षण पर दिया गया है उतना मांस वर्जन पर नहीं। श्राद्ध प्रकरण, भक्ष्याभक्ष्य प्रकरण, यज्ञ प्रकरण सभी में तो मांस भक्षण आवश्यक बतलाया है। जिस धर्म में पितरों की आत्यन्तिक तृप्ति मांस के द्वारा श्राद्ध करने से होती हो, जिस धर्म में पशुबलिदान से यज्ञ करने का और हविशेष के रूप में मांस भक्षण करना विधेय हो, जिसमें भक्ष्य पशु-पक्षियों की एक तालिका दी गई हो, जो मद्य, मांस और मैथुन को मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति मानता हो वह मलतः अहिंसा

प्रेमी नहीं हो सकता। नीचे इस विषय में कुछ आवश्यक प्रमाण दिये जाते हैं।

१- महर्षि पतञ्जलि ने महाभाष्य के पस्पसान्हिक में ग्राम्य मुर्गे और ग्राम्य सुअरों को अभक्ष्य बतलाया है। अर्थात् जंगली मुर्गों और जंगली सुअरों को वे भक्ष्य मानते थे।

२. गरुण पुराण के ६८वें अध्याय में लिखा है जो मनुष्य श्राद्ध में देवों तथा पितरों को मांस से भोग लगा कर स्वयं पीछे से मांस खाता है वह सीधा स्वर्गलोक को जाता है। उसके मार्ग में कोई बाधा नहीं पड़ती।

३. कूर्म पुराण के १६वें अध्याय में लिखा है कि देवों तथा ब्राह्मणों को नैवेद्य चढ़ाकर मांस को खाने वाला मनुष्य दोषी नहीं है। वल्कि मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्र के अनुसार पञ्चनखधारी प्राणियों तथा मछलियों को खाना उसके लिए उचित ही है, क्योंकि ईश्वर ने इन प्राणियों को मनुष्यों के खाने के लिए ही बनाया है।

४. वृहदारण्यक उपनिषद के अन्त में एक स्थान पर लिखा है कि जो यह चाहे कि मेरा पुत्र बड़ा भारी विद्वान, व्याख्याता, सभा में सब को पराजित करने वाला, सब वेदों का वक्ता और शतायु हो तो उसे चाहिए कि ऐसी सन्तान उत्पन्न करने के लिए मांस और चावलों को मिलाकर घृत में पकावें और प्रति दिन खाया करें, तथा वह मांस बछड़े या बैल का होना चाहिए।

५. कालिदास[1] ने अपने मेघदूत नामक प्रसिद्ध दूतकाव्य में मेघ को अलकापुरी जाने का मार्ग बताते हुए मार्ग में पड़ने वाली चर्मण्वती (चम्बल) नदी का उल्लेख किया है और लिखा है कि यह नदी राजा रन्ति देव की कीर्तिरूप है। जो राजा रन्तिदेव के द्वारा किये गये सुरभितनया (गायों) के आलम्भन (बलिदान) से पृथ्वी पर नदी रूप से प्रवाहित हुई है। इसकी टीका करते हुए प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने लिखा है कि पूर्वकाल में राजा रन्ति

---

१. व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्।
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४५॥

देव के द्वारा किये गये गोमेध यज्ञों में एकत्र हुए रक्त के प्रवाह से एक नदी बह निकली जो चर्मण्वती (चम्बल) कही जाती है।

यह पहले लिख आये हैं कि ब्राह्मण युग में गोमेध और अश्व-मेध का बड़ा जोर था। आज का गो-भक्त वैदिक तो इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि उसके पूर्वज महाजन कभी उस गो-माता का प्रसन्नता पूर्वक वलिदान किया करते थे और मांस खाया करते थे जिसकी रक्षा के लिये वह गोभक्षक मुसलमानों से लड़ मरने के लिये सदा तत्पर रहता है।

स्व० प्रोफेसर विलसन ने मेघदूत के अपने अनुवाद में लिखा है- "अति प्राचीन समय में हिन्दुओं में गोमेध और अश्वमेध का बहुत प्रचलन था। ऐसा अनुमान किया जाता है कि वलिदान की क्रिया वास्तविक रूप में नहीं की जाती थी, किन्तु वध्यपशु के ऊपर केवल याज्ञिक विधान की क्रियाएँ निष्पन्न करने के बाद उसे मुक्त कर दिया जाता था। किन्तु मेघदूत का उल्लेख कि गायों का रक्त एक नदी के रूप में प्रवाहित हुआ, अनुमान के विरुद्ध जाता है,।' 'आदि' अस्तु, !

अत प्राचीन वैदिक आर्य यज्ञों में न केवल गो बैल और बछड़ों का वलिदान किया करते थे किन्तु हविशेष के रूप में उनका मांस भी खाते थे।

६. यदि कोई विशिष्ट अतिथि आता था तो उसके स्वागत सत्कार में भी इसी तरह का आयोजन किया जाता था। इस आयोजन को 'मधुपर्क' कहते हैं। यह आयोजन ऋत्विक, आचार्य, राजा, श्रोत्रिय, श्वसुर, चाचा, मामा वगैरह के आने पर और यज्ञ तथा विवाह से पहले किया जाता था। उक्त प्रकार के किसी अतिथि के अपने घर पधराने पर गृहपति का प्रथम कर्तव्य यह था कि उसे बैठने को आसन दे। यह आसन कुश का होता था। अतिथि के बैठ जाने के बाद उसे पैर धोने के लिए पानी दिया जाता था उसे 'पाद्य' कहते थे। यदि अतिथि ब्राह्मण होता था तो वह दाहिना पैर पहले धोता था। यह सुवासित जल होता था। मुंह धोने के बाद अतिथि इच्छा अनुसार उसे पीता था। इन सब कामों में

मंत्रोच्चारण तो चलता ही रहता था। इसके बाद मधुपर्क का नम्बर आता था।

मधुपर्क दही और मधु को मिलाकर बनाया जाता था। किन्हीं के मत से अतिथि मधुपर्क को पीकर कुछ उसी कटोरी में छोड़ देता था। वह[1] उच्छिष्ट मधुपर्क ब्राह्मण को दिया जाता था। यह बात उल्लेखनीय है। आज कोई ब्राह्मण को उच्छिष्ट मधुपर्क को ग्रहण करने की प्रार्थना करे तो यह उसका महान् अपमान गिना जायेगा।

उसके बाद अतिथि को एक गाय भेंट की जाती थी। वह, 'ओं कुरु' कहकर उसको मारने की आज्ञा देता था। तब ग्रहस्थ किसी देवता के नाम पर उस गाय का वध करता था। यदि यह इच्छा की जाती थी कि गाय को मारा न जाये तो अतिथि एक मंत्र पढ़ता था। जिसका भाव यह होता था--'यह गाय रुद्रों की मां है, और वसुओं की लड़की है, आदित्यों की बहिन है, और हमारी प्रसन्नता की आधार है। अतः मैं सब बुद्धिमान मनुष्यों से निवेदन करता हूं कि इस पवित्र गौ को मत मारो। उसे पानी पीने दो घास खाने दो' ऐसा कहकर वह गाय को छोड़ने की आज्ञा देता था और गाय छोड़ दी जाती थी। इससे तो यह प्रमाणित होता है कि इस अवसर पर बिना गौ मांस के भी भोजन होता था। किन्तु आश्वलायन[2] का कहना है कि बिना गौ मांस के मधुपर्क हो ही नहीं सकता। उसका टीकाकार अर्गनारायण कहता है—पशु के मारे जाने पर उसका मांस भोजन में काम नहीं आता है और यदि उसे छोड़ दिया जाता है तो दूसरे उपायों से मांसाहार का प्रबन्ध किया जाता है। किन्तु बिना मांस के भोजन नहीं होता।'

अतिथि सत्कार में गौवध करना कितना आवश्यक था यह बात भवभूति कवि के उत्तर राम चरित के एक अंक में वर्णित घटना से भी स्पष्ट है। घटना यह है कि महर्षि वाल्मीकि के अश्रम में महर्षि वशिष्ठ पधारते हैं और वाल्मीकि अपने आदरणीय अतिथि के स्वागत-सत्कार के लिए जो आयोजन करते हैं उसकी रोचक चर्चा उनके दो शिष्यों के बीच में इस प्रकार होती है—

---

१. ब्राह्मणाय उच्छिष्टं उद्धृतादवशिष्टं उदङ्मुखो मधुपर्कं प्रयच्छेत्। ब्राह्मणालाभे अप्सु निक्षिपेत्॥

२. 'नामांसो मधुपर्को भवति'॥२६॥

एक—सौधातकि ! आज भगवान् बाल्मीकि के आश्रम की तैयारियाँ दर्शनीय हैं।

सौधा०—आज इन वृद्धजनों के अनध्याय का विशेष कारण उपस्थित हुआ है।

प्रथम—(हंसकर) सौधातकि ! आज तो गुरुजनों के प्रति तुम में विशेष आदर भाव दिखाई देता है ?

सौधा०—भाण्डायन भाई ! यह जो स्थविरों का दल यहां पधारा है इसकी धुरा के भार को ढोने वाले मुखिया अतिथि का भला क्या नाम है ?

भाण्डा०—छि छि यह क्या बकते हो ? ऋश्यशृंग आश्रम से महाराजा दशरथ की पत्नियों को लेकर भगवान् वसिष्ठ ऋषि पधारे हैं ?

सौधा०—अच्छा ! वसिष्ठ ऋषि आये हैं।

भाण्डा०—हाँ।

सौधा०—मैंने तो समझा था कि कोई व्याघ्र या भेड़िया आया है।

भाण्डा०—अरे: यह क्या बकते हो ?

सौधा०—उसने आते ही बेचारी कल्याणिका गौ को खा डाला।

भाण्डा०—'समांसो मधुपर्कः' इस वेद वाक्य को मानने वाले गृहस्थ अभ्यागत वेदविद् ब्राह्मण के भोजन के लिए नई बछिया, या बल अथवा हृष्ट पुष्ट बकरे का बलिदान करते हैं। धर्मशास्त्र की ऐसी आज्ञा है।

सौधा०—हार गये।

भाण्डा०—कैसे ?

सौधा०—जिन वाल्मीकि ऋषि ने वशिष्ठ ऋषि के स्वागत में बछिया का वध किया उन्होंने आज ही समागत जनक राजा के लिए दही और मधु से ही मधुपर्क तैयार किया और बछिया को जीवित छोड़ दिया।

भाण्डा०—मांसभोजियों के लिये ही मधुपर्क में मांस दान का विधान ऋषियों ने किया है। राजर्षि जनक तो निरामिषभोजी हैं।

सौधा०—राजर्षि के निरामिषभोजी होने का कारण क्या है ?

भाण्डा० - देवी सीता के निर्वासन का समाचार सुनते ही राजर्षि

जनक वानप्रस्थ हो गये। तथा चन्द्रद्वीप के तपोवन में कुछ वर्ष तक उन्होंने तपस्या भी की है।

भवभूति ने महावीर चरित के नाम से रामचरित का पूर्वभाग भी रचा है। उसके तीसरे अंक में जब जमदग्नि परशुराम राम-विवाह में विघ्न डालने के लिये जनकपुरी पहुंचे हैं। और बहुत क्रुद्ध होते हैं तो महर्षि वशिष्ठ उन्हें शान्त करने के लिये कहते हैं—'बछिया' मारी जा रही है और घी में पकवान बन रहे हैं। आप एक श्रोत्रिय ब्राह्मण हैं। और श्रोत्रिय के घर पर पधारे हैं। अतः हमारा आतिथ्य स्वीकार करें।'

ऊपर के उदाहरणों से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जाती है और उसमें सन्देह को स्थान नहीं रहता। यदि नाटककार के पास शास्त्रीय प्रमाण न होते और उसे यह आशंका होती कि यह चर्चा उसके पाठकों को अप्रिय लगेगी तो वह ऐसी चर्चा उठाकर अपने पाठकों के मनोभावों को कष्ट पहुंचाने की चेष्टा कभी न करता। किन्तु धर्मशास्त्र की आज्ञा होते हुए भी उसके प्रति उत्पन्न हुई अश्रद्धा की भावना का संकेत उसने सौधातकि नामके तापस के द्वारा कराया है। जहां भाण्डायन धर्मशास्त्र का प्रतीक है वहां सौधातकि उसकी उक्त आज्ञा के प्रति व्यंग कसने वाले जनमत का प्रतीक है। कवि अपने समय का प्रतिनिधि होता है उत्तर रामचरित में उसकी झलक स्पष्ट पाई जाती है।[1]

---

१. संज्ञाप्यते वत्सतरी सर्पिष्यन्नं च पच्यते।
श्रोत्रियः श्रोत्रियगृहमागतोऽसि जुषस्वनः॥

पौराणिक संस्कृति का उद्गम

इस तरह जब सप्तसिन्धु प्रदेश के निवासी वैदिक आर्यों में बलिदान की प्रथा का प्राधान्य था, तब गंगा के पूर्व देशों में एक दूसरी संस्कृति फैली हुई थी जिसके प्रतिष्ठाता भगवान् ऋषभदेव थे। यह संस्कृति अहिंसा प्रधान थी। उसे श्रमण संस्कृति कहते थे। जब वैदिक आर्य सप्तसिन्धु प्रदेश से निकलकर पूर्व की ओर बढ़े तो उनका संघर्ष वहां के निवासियों के साथ हुआ जो स्वाभाविक ही था। भगवान् ऋषभदेव ने जनता को पशुपालन, खेती, शिल्प, वाणिज्य आदि से आजीविका करने की शिक्षा दी थी, जब कि वैदिक आर्यों ने कृषक जीवन नहीं अपनाया था। उनका संगठन कबीलों के रूप में था। ऋषभदेव ने सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए समाज को केवल तीन ही वर्गों में विभाजित कर रखा था। जिन लोगों का काम वाह्य आक्रमण वगैरह से समाज की रक्षा करना था वे क्षत्रिय कहे जाते थे, जो वाणिज्य व्यापार करते थे वे वैश्य कहलाते थे और जो सेवा वृत्ति करते थे, वे शूद्र कहलाते थे। ब्राह्मण नाम का कोई वर्ग उनकी व्यवस्था में नहीं था जब कि वैदिक आर्यों में ब्राह्मण प्रभुत्व या पौरोहित्य राज्य था।

ज्यों ज्यों वैदिक आर्य आगे बढ़ते गए त्यों त्यों संघर्ष भी बढ़ता गया। श्रमण संस्कृति के उपासकों को याज्ञिक क्रियाकाण्ड कतई नहीं रुचता था, मांसप्रिय वैदिक देवता सब के लिए अरुचिकर थे। वे तो आत्म तत्व के सच्चे गवेषक थे और आत्म-यज्ञ को जिसमें समस्त वासनाओं की आहुति दी जाती थी सच्चा यज्ञ मानते थे। धर्म के लिए किये जाने वाले पशुवलिदान से उन्हें घृणा थी फलतः वैदिक क्रियाकाण्ड का विरोध प्रबलतर होता गया। और जनता में उसके प्रति अरुचि फैलती गई आरण्यकों में यज्ञादि कर्मों से उत्पन्न होने वाले फल के प्रति अश्रद्धा का भाव दृष्टिगोचर होता है। जो बतलाता है कि कोरे कर्मकाण्ड से लोगों की रुचि हटने लगी थी। तब उपनिषदों की रचना की गई। किन्तु उनकी स्थिति वेदों के अनुकूल नहीं थी।

एक ओर वे वेदों की मौलिकता को स्वीकार करते थे और दूसरी ओर उनका कहना था कि वैदिक ज्ञान उस सत्य दैवी परिज्ञान से बहुत ही घटिया है और वह हमें मुक्ति नहीं दिला सकता। वैदिक आर्य तो मुक्ति को जानते ही नहीं थे। उनके लिए तो स्वर्ग ही सर्वोच्च था। किन्तु श्रमण संस्कृति में मोक्ष को ही चरम लक्ष्य माना गया था। फलतः संघर्ष के फलस्वरूप वैदिकों में भी मोक्ष की चाह उत्पन्न हुई और उसे पाने के लिये वे उत्सुक हुए। किन्तु उपनिषदों ने आध्यात्मिक सिद्धान्त का प्रतिपादन तो किया परन्तु वैदिक क्रिया-काण्ड का विरोध नहीं किया। स्व० डा० सर राधाकृष्णन लिखते[1] हैं–'उपनिषदों ने प्राचीन वैदिक क्रियाकाण्ड को ऊँचे अध्यात्मवाद से जोड़ने का प्रयत्न किया। किन्तु तत्कालीन पीढ़ी ने उसमें बिल्कुल अभिरुचि नहीं दिखाई। फलतः उपनिषदों का ऊँचा अध्यात्मवाद लोकप्रिय नहीं हो सका। इसने पूरे समाज को कभी प्रभावित नहीं किया। एक ओर यह दशा थी दूसरी ओर याज्ञिक धर्म अब भी बलशाली था ......मनुष्य का मस्तिष्क नियमित क्रियाकाण्ड की परिधि में ही घूमा करता था। कुछ मंत्रों का उच्चारण किये बिना या कुछ विधि विधानों का अनुष्ठान किये बिना कोई न जाग सकता था, न स्नान कर सकता था, न बाल बनवा सकता था, न मुंह धो सकता था और न कुछ खा सकता था। यह वह समय था जब एक क्षुद्र और निष्फल धर्म ने कोरे मूढ़ विश्वासों और सारहीन वस्तुओं के द्वारा अपना कोष भर लिया था किन्तु एक शुष्क और हृदयहीन दर्शन जिसके पीछे अहंकार और अत्युक्तियों से पूर्ण एक शुष्क और स्वमता-भिमानी धर्म हो, विचारशील पुरुषों को कभी भी सन्तुष्ट नहीं कर सकता और न जनता को ही अधिक समय तक सन्तुष्ट रख सकता है। उपनिषपदों का ब्रह्मवाद और वेदों का बहुदेवतावाद, उपनिषदों का आध्यात्मिक जीवन और वेदों का याज्ञिक क्रियाकाण्ड, उपनिषदों का मोक्ष और संसार तथा वेदों का स्वर्ग और नरक, यह तर्क विरुद्ध संयोग अधिक दिनों तक नहीं चल सकता था अतः पुनर्निर्माण की सख्त जरूरत थी। समय एक ऐसे धर्म की प्रतीक्षा कर रहा था जो गम्भीर और अधिक आध्यात्मिक हो तथा मनुष्यों के साधारण जीवन

---

१. इण्डियन फिलासोफी (भारतीय दर्शन), भा० १, पृ० २६४-२६६

में उतर सके या लाया जा सके। धर्म के सिद्धान्तों का उचित सम्मिश्रण करने के पहले यह आवश्यक था कि सिद्धान्तों के उस बनावटी सम्बन्ध को तोड़ डाला जाये। जिसमें लाकर उन्हें एक दूसरे के सर्वथा विरुद्ध स्थापित किया गया था।...'

स्व० डा० सर राधाकृष्णन के उक्त चित्रण से स्पष्ट है कि जब वैदिक क्रियाकाण्ड का विरोध हुआ और जनता की रुचि उस ओर से हटने लगी तो वैदिकों को अपनी स्थिति बनाये रखने के लिए कुछ नूतन परिवर्तन की आवश्यकता प्रतीत हुई। अतः उन्होंने श्रमण संस्कृति के आध्यात्मिक तत्व को अपनाकर उपनिषदों की रचना की। किन्तु उपनिषद बातें तो अध्यात्म की करते थे और समर्थन वैदिक क्रियाकाण्ड का करते थे। फलतः श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति के परस्पर विरोधी तत्वों का तर्क विरुद्ध संयोग कब तक चल सकता था। अतः पुर्ननिर्माण की आवश्यकता प्रतीत होना स्वाभाविक था ऐसे ही समय में जैनों के २३वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ का जन्म वाराणसी नगरी में हुआ। एक दिन युवक पार्श्वकुमार गंगा के किनारे घूम रहे थे। उन्होंने दो तापसों को चारों ओर आग जलाकर तपस्या करते देखा। दिव्यचक्षु पार्श्वकुमार ने देखा कि एक लक्कड़ में नाग-नागिनी का जोड़ा है और वह आग में जलकर भस्म होने को हैं। तुरन्त तापसियों को वह जलता हुआ जोड़ा लकड़ी फाड़ कर दिखलाया और उन्हें इस अज्ञानमूलक कायक्लेश करने के लिए धिक्कारा। इस घटना के बाद ही पार्श्वकुमार राजपाट छोड़कर प्रव्रजित हो गए और उन्होंने पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करके ७० वर्ष तक जगह-जगह विहार करके अध्यात्म और अहिंसा धर्म का उपदेश किया उनसे लगभग दो सौ वर्ष के पश्चात् ही बिहार में महावीर और बुद्ध का जन्म हुआ। दोनों महापुरुषों ने राज्यासन छोड़कर जनकल्याण का मार्ग अपनाया। वैदिक धर्म में शास्त्रविचार केवल विद्वानों तक ही सीमित था। किन्तु इस युग में उसका प्रचार जनसाधारण की भाषा में सर्वसाधारण में किया जाने लगा। आध्यात्मिक विचारों को व्यावहारिक रूप देने की तथा विचारों के अनुरूप जीवन बिताने की प्रवृत्ति की ओर भी इस युग में विशेष लक्ष्य दिया गया, क्योंकि उक्त महापुरुषों ने ऐसा ही आदर्श जनता के सामने रखा था। वैदिक युग में

इन्द्र, वरुण आदि को ही देवता के रूप में पूजा जाता था किन्तु उक्त महापुरुषों ने मनुष्य को उन्नत बनाकर उसे देवता की कोटि में ला बिठाया था। काल्पनिक या भावात्मक देवताओं से मूर्तिमान देवता अधिक आकर्षण की चीज बन गया था। अतः वैदिक धर्म की स्थिति डांवाडोल हो गयी। उसको कायम रखने के लिए विरोधियों की कुछ बातों को अपनाने की वैसो ही आवश्यकता प्रतीत हुई जैसी आवश्यकता उपनिषदों की रचना से पूर्व प्रतीत हुई थी।

दीवान बहादुर कृष्ण[1] स्वामी आयंगर के मतानुसार उस समय एक ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो ब्राह्मण धर्म के इस पुर्ननिर्माण काल में बौद्धधर्म और जैनधर्म के विरुद्ध जनता को प्रभावित कर सकता। उसके लिए एक मानव देवता और उसकी पूजा विधि की आवश्यकता थी।'

अतः पुर्ननिर्माण ने एक धर्म को जन्म दिया जो स्व० सर राधाकृष्णन्[2] के अभिप्राय के अनुसार 'उतना नियमवद्ध नहीं था तथा उपनिषदों के धर्म से अधिक सन्तोषप्रद् था। उसने एक संदिग्ध और शुष्क ईश्वर के बदले में एक जीवित मानवीय परमात्मा दिया। भगवद्-गीता, जिसमें कृष्ण विष्णु के अवतार तथा उपनिषदों के परंब्रह्म माने गये, पंच रात्र सम्प्रदाय और श्वेताश्व तथा बाद के अन्य उपनिषदों का शैवधर्म इसी धार्मिक क्रान्ति के फल हैं।'

प्रसिद्ध इतिहासज्ञ स्व० ओझाजी ने लिखा[3] है—'बौद्ध और जैनधर्म के प्रचार से वैदिक धर्म को बहुत हानि पहुंची। इतना ही नहीं, किन्तु उसमें परिवर्तन करना पड़ा। और वह नये सांचे में ढलकर पौराणिक धर्म बन गया। उसमें बौद्ध और जैनों से मिलती धर्मसम्बन्धो बहुत सी नई बातों ने प्रवेश किया। इतना ही नहीं, किन्तु बुद्धदेव की गणना विष्णु के अवतारों में हुई और मांस भक्षण का थोड़ा बहुत निषेध करना पड़ा।'

विष्णु

यों तो विष्णु की पूजा उतनी ही प्राचीन है जितना ऋग्वेद, तथा प्राचीन वैदिक काल में भी विष्णु एक बड़ा देवता माना जाता

---

१. एंशियंट इण्डिया, पृ० ५८८ २. इं० फि०, पृ० २७५-७६

३. राजपूताने का इतिहास, प्र० ख०, पृ० १०-११।

था किन्तु वह सर्वोपरि देवता नहीं था। हाँ, बाद के वैदिक साहित्य में विष्णु की मौलिक स्थिति का पता चलता है। किन्तु वैष्णव सम्प्रदाय का पता उस काल में नहीं चलता। केवल महाभारत' के अर्वाचीनतम भाग में 'वैष्णव' नाम आता है।

श्री हेमचन्द्र राय चोधरी का मत[१] है कि महाभारत के उक्त भाग का ठीक-ठीक रचना काल अनिश्चित है। किन्तु अनेक प्रमाणों के आधार पर यह निष्कर्ष अवश्य निकाला गया है कि ईस्वी सन की पांचवीं शती से 'परम वैष्णव' शब्द सर्वसाधारण में प्रयुक्त हुआ है। 'ब्राह्मण ग्रन्थों का विष्णु भक्ति की अपेक्षा यज्ञ से ही अत्यधिक सम्बन्ध है। अनेक शिलालेखों से यह प्रमाणित होता है कि भागवत लोग वासुदेव के भक्त थे। किन्तु किसी संहिता, ब्राह्मण या प्राचीन उपनिषद में विष्णु को वासुदेव नहीं कहा। महाभारत (शान्तिपर्व) में लिखा है कि कृष्ण वासुदेव ने सबसे प्रथम अर्जुन को भागवत धर्म का उपदेश दिया। यह कृष्ण वासुदेव मथुरा के यादव वंशी, क्षत्रिय थे।

सर आर० जी०भण्डारकर के मतानुसार वासुदेव और कृष्ण ये दोनों मूल में दो विभिन्न व्यक्तियों के नाम थे। उनमें से वासुदेव यादव, अथवा वृष्णि या सात्वत वंशी क्षत्रिय थे। उन्होंने एक धर्म की स्थापना की। बाद में उन्हें कृष्ण मान लिया गया। प्राय: सभी प्रमुख विद्वानों ने कृष्ण को एक मानवीय उपदेष्टा स्वीकार किया है। कहा जाता है कि कृष्ण ने मथुरा राज्य में भागवत धर्म की स्थापना की। वह भागवत धर्म ही आज के वैष्णव धर्म का पूर्वज है।

अन्वेषकों का मन्तव्य है कि प्रारम्भ में भागवत धर्म की ओर ब्राह्मण धर्म का केवल सखा भाव था। किन्तु जब मौर्यवंशी राजाओं ने बौद्ध धर्म के प्रचार का बीड़ा उठाया तो दोनों धर्म आपस में मिल गये और इस मिलन के फलस्वरूप वासुदेव कृष्ण का तथा ब्राह्मण धर्म के देवता नारायण और विष्णु का भी एकीकरण कर दिया गया।

---

१. अष्टादश पुराणानां श्रवणाद् यद फलं भवेत्।
तत्फलं समवाप्नोति वैष्णवो नात्र संशय: ॥६७॥

२. 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ दी वैष्णव सेक्ट, पृ० १८

इतिहास से पता चलता है कि उत्तर भारत के शक और कुशान राजवंश वासुदेव कृष्ण के भागवत धर्म के पक्षपाती नहीं थे। जब कि गुप्तराजाओं का कुल देवता वासुदेव था। गुप्तराजाओं ने भागवत धर्म के प्रति वही किया जो अशोक ने बौद्धधर्म के लिए। गुप्तों के पतन और हूणों के आगमन के साथ ही उत्तर भारत से भागवतधर्म की महत्ता जाती रही। किन्तु दक्षिण भारत में इसने पैर जमाये और महाराष्ट्र को पकड़ा महाराष्ट्र से यह तामिल देश में गया और फिर चारों ओर फैलता गया। अन्वेषकों का विश्वास है कि यदि गुप्तों ने वासुदेव को अपना कुलदेवता न बनाया होता तो आज वासुदेव का कहीं पता भी न चलता।

यह ऊपर बतलाया गया है कि ब्राह्मण कालीन याज्ञिक क्रियाकाण्ड की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप भागवत धर्म का उदय हुआ। इस धर्म के गुरुजन जहां वैदिक क्रियाकाण्ड की सार्वजनिक खुली भर्त्सना को रोकते थे। वहाँ कुछ नये सिद्धान्तों का भी प्रचार करते थे, जिसमें एक अहिंसा भी था छान्दोग्योपनिषद्[1] के अ० ३, व ११७ में आत्म यज्ञ की उपासना बतलाई है। उसमें बतलायाहै कि तप, दान, आर्जव, अहिंसा और सत्यवचन ही उसकी दक्षिणा है। आगे लिखा[2] है कि घोर आङ्गिरस ऋषि ने देवकी पुत्र कृष्ण को यह यज्ञदर्शन सुनाया। जिससे वह अन्य विधाओं के विषय में तृष्णाहीन हो गया।

इस तरह उपनिषद में कृष्ण को एक ऋषि का शिष्य बतलाया है किन्तु यह नहीं लिखा है कि वह स्वयं एक धर्मसंस्थापक भी था। जैन और बौद्ध ग्रन्थों में भी कृष्ण एक राजा और योद्धा के रूप में ही दिखाई देते हैं, धर्म गुरु के रूप में नहीं।

प्रो० मैक्समूलर पुराणों के देवकी पुत्र कृष्ण और उपनिषद के देवकी पुत्र कृष्ण को एक व्यक्ति नहीं मानते। तथा डा० मैकडोनल और डा० कीथ उनकी एकता में सन्देह करते हैं। उपनिषद के श्रीकृष्ण को लेकर इन दोनों विद्वानों ने 'वैदिक इण्डेक्स' में नीचे लिखे उद्गार प्रकट किये हैं—

---

१. अथ यत्तपो दानमार्जवमहिंसासत्यवचनमिति ता अस्य दक्षिणाः ॥४॥

२. तद्धैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव'''।

"परम्परा तथा कुछ आधुनिक लेखक जैसे ग्रीर्सन, गार्बे वगैरह उपनिषद के कृष्ण को ही महाभारत का नायक कृष्ण मानते हैं जो बाद में देवता मान लिया गया। उनके मतानुसार वह एक क्षत्रिय था और ब्राह्मण धर्म के विरोध में नैतिक धर्म का उपदेष्टा था। किन्तु यह मत एक दम सन्देहास्पद है। इससे बेहतर तो यह जंचता है कि या तो नामों की समानता आकस्मिक है या छन्दोग्य उपनिषद का उल्लेख एक ऐसे पौराणिक उल्लेख का अंश है जिसका आधार ऐतिहासिक है।…"

प्रो० वर्थ दोनों कृष्णों को एक मानते हैं किन्तु उपनिषद में कृष्ण के उल्लेख को एकदम पौराणिक मानते हैं।

डा० कीथ ने लिखा[1] है—'छान्दोग्य उपनिषद में घोर अंगिरस के शिष्य देवकी पुत्र कृष्ण का उल्लेख है जिसे अंगिरस ने कुछ सिद्धान्तों की शिक्षा दी थी। हमसे यह विश्वास करने के लिए कहा जाता है कि यह महाभारत के कृष्ण का ऐतिहासिक उल्लेख है। दोनों कृष्णों के एक व्यक्ति होने की मान्यता में यह कल्पना अत्यधिक प्रामाणिक है जो हम उपनिषद के अर्ध पौराणिक श्री कृष्ण में पाते हैं। उपनिषद का श्री कृष्ण जातीय देवता न होकर एक मानव प्राणी है। तथा इस उल्लेख से कृष्ण के देवत्व प्राप्ति तथा महाभारत में उनकी स्थिति को लेकर काल सम्बन्धी कठिनाइयां भी पैदा नहीं होती।… तथापि उस सत्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि उपनिषद् के कृष्ण से महाभारत के कृष्ण के कार्य तथा उपदेश बिल्कुल भिन्न हैं।' क्योंकि उपनिषद में अन्य गुणों के साथ-साथ सत्य बोलने को भी सम्मिलित किया गया है।'

अन्त में डा० कीथ ने यह निष्कर्ष निकाला है कि 'चूंकि प्रमाणों की कमी है अत. उनके आधार पर भागवत धर्म के संस्थापक कृष्ण का ढांचा नहीं खड़ा किया जा सकता। महाभारत का श्री कृष्ण देवता है और उपनिषद का कृष्ण केवल मनुष्य है और दोनों को मिलाने के साधन अस्पष्ट हैं।'

दोनों कृष्णों की एकता और अनेकता की चर्चा को यहीं छोड़कर हम यही मानकर आगे बढ़ते हैं कि भागवत धर्म ही आधुनिक वैष्णव

---

१. ज० रा० ए० सो० १६१५, पृ० ५४५-५५०।

का पूर्वज है और वह मथुरा की भूमि में उत्पन्न हुआ। तथा उसके संस्थापक घोर अंगिरस ऋषि के शिष्य और यादववंशी कृष्ण थे, जो महाभारत के नायक और गीता के उपदेष्टा भी कहे जाते हैं।

महाभारत और गीता

घोर अंगिरस ने कृष्ण को अहिंसा के विषय में क्या उपदेश दिया था इसका कोई पता नहीं क्योंकि छान्दोग्य उपनिषद में केवल अहिंसा का नाम मात्र आया है। अतः कृष्ण की अहिंसा किस प्रकार की थी, इसका पता महाभारत और गीता से ही लग सकता है। किन्तु प्रायः सभी पुरातत्वविद् विद्वान् महाभारत का उपयोग बहुत सावधानी के साथ करने की सलाह देते हैं, क्योंकि उसका वर्तमान रूप किसी एक व्यक्ति और एक ही समय की उपज नहीं है।

डा० आर० जी० भण्डारकर लिखते[1] हैं—'यद्यपि महाभारत पाणिनि और आश्वलायन से पहले वर्तमान था किन्तु यह बात अत्यधिक संशयास्पद है कि उसका वर्तमान रूप वही है जो उनके समय में था। इसके विरुद्ध संभावना यही है कि उसमें समय-समय पर वृद्धि हुई है और ग्रन्थ इतना भ्रष्ट कर दिया गया है कि कोई निश्चयपूर्वक यह नहीं कह सकता कि अमुक शब्द इसमें बाद में नहीं प्रविष्ट कर दिया गया है।'

हांपकिन्स लिखते हैं[2]—'महाभारत के वर्तमान रूप में केवल बौद्ध धर्म (ई० पू० ५००) के बाद की ही बातें नहीं हैं किन्तु भारत पर यूनानी आक्रमण (ई० पू० ३००) के बाद की बातें भी वर्तमान हैं।'

प्रसिद्ध भारतीय विद्वान श्री चिन्तामणि विनायक वैद्य ने महाभारत पर एक आलोचनात्मक पुस्तक लिखी है। उसके एक अध्याय में इस बात का विचार किया है महाभारत का वैष्णव धर्म के साथ क्या कुछ सम्बन्ध है? श्री वैद्य का मन्तव्य है कि महाभारत के तीन संस्करण हुए। पहला संस्करण व्यास ने किया। व्यास का विजयकाव्य एक छोटा सा इतिहास ग्रन्थ था। वर्णनात्मक ग्रन्थ नहीं था। दूसरा संस्करण वैशम्पायन ने किया। उस समय उसका प्रमाण

---

१. 'दक्षिण भारत का इतिहास' पृ० ८।

२. 'ग्रेट एपिक आफ इण्डिया'।

२४००० श्लोक प्रमाण रहा होगा। उसका नाम भारत पड़ा। तीसरा वर्तमान संस्करण सौति ने किया। व्यास ने जब अपना 'विजय' नाम का काव्य (महाभारत का आद्य नाम) लिखा उस समय कृष्ण की पूजा अपनी बाल्यावस्था में थी, क्योंकि महाभारत में एक दो जगह कृष्ण को एक साधारण मनुष्यरूप में अंकित किया गया है वर्तमान महाभारत के कुछ अंशों की समीक्षा से यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यास का मूल ग्रन्थ इससे विल्कुल जुदा था।'

श्री वैद्य कहते हैं—'व्यास से वैशम्पयान वैष्णव धर्म का विशेष अनुयायी प्रतीत होता है क्योंकि वैष्णव लोग वैशम्पायन के भारत को वैद्य की तरह प्रमाण मानते हैं। इसका कारण सम्भवतः भारत में भगवद् गीता और विष्णुसहस्र नाम का होना है। भगवद्-गीता संस्कृत में अवैदिक साहित्य का सर्वोत्तम ग्रन्थ है। हमारी सम्मति में ये श्री कृष्ण का उपदेश है। यद्यपि शब्द उनके नहीं हैं। व्यास के हैं। यह सम्भव है कि वैशम्पायन ने उसमें यहां वहां परिवर्तन करके उसका पुर्ननिर्माण किया हो और उसे अधिक वैष्णवी बनाया हो।'

'यद्यपि समय की सुदीर्घता के कारण आज इस बात की खोज निकालना शक्य नहीं है कि वैशम्पायन ने कृष्ण पूजा को महत्व देने के लिए उसमें क्या मिलाया, फिर भी महाभारत को एक समालोचक विद्वान की दृष्टसे पढ़ने पर यह छिपा नहीं रहता कि वैष्णव सिद्धान्तों का लगातार संकलन किया गया है। जहां भी अवसर आता है कृष्ण की प्रशंसा करने से नहीं चूकता। पुराणों में पाई जाने वाली अवतारों की चर्चा संक्षेप में भारत में भी मिलती है।'

'मैगास्थिनीज के समय में विष्णु पूजा की तरह ही शिव पूजा भी अच्छी तरह प्रचलित हो चुकी थी। सौति ने महाभारत में प्राचीन धर्म को बचाने के लिए बौद्धधर्म के विरोधी सभी उप धर्मों का संकलन किया है जिनमें शैवधर्म भी है। इस तरह जब वैशम्पायन का भारत वैष्णव सम्प्रदाय से सम्बद्ध था तब सौति का महाभारत किसी संप्रदाय विशेष से सम्बद्ध प्रतीत नहीं होता।'

श्री जयचन्द विद्यालंकार लिखते हैं—'मनुस्मृति' की तरह

---

१. भा० इं० र०, पृ० ७२६-२७।

विद्यमान महाभारत का एक बहुत बड़ा अंश भी शुंगयुग का है। और उसके अन्तर्गत भगवद् गीता भी जायसवाल जी के कथनानुसार मनुस्मृति वाले आदर्शों से ही अनुप्राणित है। वे उसे सम्भवतः इसी युग की उपज मानते हैं। किन्तु वैसा माने बिना भी कहा जा सकता है कि गीता के आदर्शों को इस युग में पुनः जीवित किया गया। बौद्धों और जैनों ने अहिंसा का हौआ खड़ा कर दिया था गीता की स्पष्ट शब्दों में घोषणा थी कि 'हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते। वह मार कर भी नहीं मारता और न पाप के बन्धन में फसता है। निष्काम आदर्श की साधना के लिए हिंसा और विहिंसा दोनों साधन मात्र हैं। किन्तु वैदिक युग के जीवन और संस्कृति अपने पहले रूप में कभी वापिस न आ सकते थे और न बौद्ध और जैन विचार जड़ से मिट सकते थे। अश्वमेध की रस्म भले ही पूरी की जाती, वैदिक काल की विहिंसा नये परिष्कृत समाज में ज्यों की त्यों वापिस न आ सकती थी। वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान के पक्षपाती इसी कारण उसके उत्तम अंशों का पुनरुत्थान कर सके कि उन्होंने बौद्ध और जैन सुधार की लहर में से सब अच्छा अंश अपना लिया था। स्वयं गीता और मनुस्मृति पर बौद्ध प्रभाव की छाप स्पष्ट है।'

प्राचीन भारतीय इतिहास के जानकारों से यह बात अपरिचित नही है कि मौर्यसम्राट या तो जैन धर्म के पोषक थे या बौद्ध धर्म के। इसी से अन्तिम मौर्य सम्राट वृहद्रथ को मारकर शुंग वंशी पुष्यमित्र सम्राट बन बैठा। वह ब्राह्मण था। उसने श्रमणों पर बड़े अत्याचार किये और वैदिक धर्म के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। उसी के समय में महर्षि पतंजलि ने अपना महाभाष्य रचा। जिसमें श्रमण और ब्राह्मण के शाश्वतिक विरोध का उदाहरण दिया गया है। उसी समय वर्तमान महाभारत, गीता और मनुस्मृति का पुनर्निर्माण हुआ। यह सब लगभग ई० पू० दूसरी शताब्दी की घटना है।

सम्राट अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई करने के बाद के युद्ध में हुए नरसंहार से द्रवित होकर भविष्य में युद्ध के बजाय प्रेम से विजय करने का संकल्प किया था और युद्ध को तिलाञ्जलि दे दी थी। गीता में उसी की प्रतिक्रिया की प्रतिध्वनि अर्जुन प्रतिबोध के रूप में श्री-कृष्ण के द्वारा कराई गई है, जिसमें युद्ध से विरत होने के मार्ग की

अनार्यजुष्ट, असेव्य आदि कहकर निन्दा की है। और अन्त में युद्ध करने का ही आदेश दिया है।

मनुस्मति में माँसाहार पर जोर देकर भी कुछ श्लोक अहिंसा परक दिये गये हैं जिनका उल्लेख पहले किया गया है वे भी इसी सामयिक प्रवाह के कारण मनुस्मृति में घुसेड़ दिये गये हैं। इसी से मनुस्मृति की टोन के साथ उनका मेल नहीं खाता और उनकी स्थिति बिल्कुल अटपटी सी लगती है।

अब महाभारत को देखिये—

महाभारत के शान्तिपर्व और अनुशासन पर्व में हिंसा, अहिंसा का विवेचन अधिकता से पाया जाता है तथा उनमें मनु के उल्लेख पूर्वक मनुस्मृति के कुछ श्लोक भी प्रमाण रूप से लिये गये हैं। इसके सिवाय मनुस्मृति में ब्राह्मणत्व की जो प्रतिष्ठा की गई है वह भी यहां पाई जाती है। ब्राह्मण का धन नहीं हरना चाहिए, उसे सदा क्षमा करना चाहिए, उसकी पूजा करनी चाहिए, उसे दान देना चाहिए आदि ब्राह्मण युग की बातें महाभारत में भी विराजमान हैं, किन्तु हिंसा-अहिंसा के विवेचन की ध्वनि बहुत बदली हुई है। क्या यज्ञ और क्या मांसाहार दोनों के निमित्त से की जानेवाली हिंसा को अनुचित बतलाया है किन्तु मनु महाराज के प्रभाव से यह चर्चा भी मुक्त नहीं है। नीचे उसका विवेचन विस्तार से किया जाता है।

महाभारत में वर्णित हिंसा-अहिंसा को चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—मांसाहार जनित, यज्ञ जनित और युद्ध जनित हिंसा तथा अहिंसा की प्रशंसा। पहले माँसाहार जनित हिंसा को लीजिए—

मांसाहारजनित हिंसा

शान्तिपर्व के प्रारम्भ में भक्ष्याभक्ष्य का विचार किया गया है। लिखा[1] है कि ब्राह्मणोंको बैल, क्षुद्रपिपोलिका, शल्करहित मत्स्य, कच्छप के सिवाय अन्य जलजन्तु तथा मेण्ढ़क, हंस, गरुण, चकवा, बगुला, कौआ, गृद्ध, बाज, उल्लू, सुअर, क्रव्याद(जो कच्चा मांस खाते हैं)जिनके दो ओर दांत हों, तथा जो चार दाढ़ वाले हों वे सब अभक्ष्य हैं।

---

१. अ० ३७ श्लो० २१-२४।

यद्यपि यहां भक्ष्य पक्षियों वगैरह को नहीं गिनाया है किन्तु मनुस्मृति के भाक्ष्याभक्ष्य विचार के साथ इसकी तुलना करने पर यह प्रकट हो जाता है कि यहां भी कुछ को भक्ष्य माना है। जैसे शल्क-वर्जित मत्सों को तथा कच्छप के सिवाय अन्य जलज जीवों को अभक्ष्य माना है। इससे स्पष्ट है कि सशल्क मत्स्य तथा कच्छप भक्ष्य हैं, जैसा कि मनुस्मृति[1] और याज्ञवल्क्यस्मृति[2] में भी बतलाया है। मनुस्मृति के ही अनुकूल इसमें भी ब्राह्मणों के लिए मृगों का बध करने वाले एक निषाद की कथा[3] दी है।

आगे आपद्धर्म पर्व में बतलाया है कि एक बार भयंकर दुर्भिक्ष पड़ने के कारण विश्वामित्र ऋषि को भोजन नहीं मिला। उनके प्राणों पर संकट आ गया। तब वह अन्न की खोज में रात्रि के समय एक चाण्डालों के मुहल्ले में जा निकले। वहां एक घर में कुत्ते की आंत लटकी हुई थी। जैसे ही उसे चुराने के लिए घुसे चाण्डाल जाग गया। दोनों का संवाद हुआ। चाण्डाल महर्षि को उपदेश देने लगा। तो महर्षि बोले—'मेढ़कों के टर्र-टर्र करने पर भी गायें पानी पीती ही हैं। धर्म के विषय में तेरा अधिकार नहीं है अतः आत्म प्रसंसा मत कर।' तब चाण्डाल बोला—आप तो जानते ही हैं कि कुत्ते का मांस अभक्ष्य है। विश्वामित्र बोले—तेरा कहना ठीक है किन्तु प्राणों की रक्षा के लिए अभक्ष्य भी भक्ष्यणीय है। जिस अभक्ष्य भक्षण में हिंसा और असत्य हो वही त्याज्य है। इसमें दोनों नहीं हैं, केवल निन्दा अवश्य है।

अन्त में विश्वामित्र जांघ को ले गए और उससे देवों और पितरों को तृप्त करके अपने प्राण बचाये। इस कथा का उपसंहार करते हुए अन्त में यह उपदेश दिया है—विद्वान मनुष्य को सब उपायों से अपने जीवन की रक्षा करनी चाहिए। यदि जीवन रहा तो मनुष्य पुण्यकार्य करके कल्याण को प्राप्त होता है। अतः विद्वान को धर्माधर्म के निश्चय में अपनी बुद्धि से विचार करके प्रवृति करनी चाहिए।'

यहां यह बतला देना अनुचित न होगा कि अनुशासन पर्व में यद्यपि मांस भक्षण का निषेध किया है। तथापि मांस से पिन्डतर्पण

---

१. अ० ५, श्लोक १६ २. ७, श्लो० १७७

३. आरण्यकान् प्रव्रजितान् ब्राह्मणान् परिपूजयन्।
अपि तेभ्यो मृगान् हत्वा, निनाय सततं वने ॥८॥

करना बतलाया है। मांस भक्षणका निषेध करते हुए लिखा है—

१. जो पहले मन वचन और कर्म से त्यागकर मांस भक्षण नहीं करता वह पापों से छूट जाता है।

२. ब्रह्मवादियों ने हिंसा के तीन कारण बताये हैं—मन, बचन और आस्वाद। इस लिए बुद्धिमान तपस्वीजन मांस नहीं खाते।

३. जो विद्वान मांस को पुत्र के मांस के समान जानता हुआ भी मोह से आक्रान्त होने के कारण उसे खाता है वह अधम है।

४. जैसे माता पिता का सम्बन्ध होने से पुत्र की उत्पत्ति होती है वैसे ही हिंसा करने से अवश्य ही बहुत पाप उत्पन्न होता है।

५. कुछ लोग जिह्वा की लम्पटता के वशीभूत होकर अचिन्तित, अनिर्दिष्ट और असंकल्पित माँस की प्रशंसा करते हैं। मांस की प्रशंसा करना भी सदोष है।

६. बहुत से साधु जन स्वमांस से परमाँस का पोषण करके और जीवन को त्याग कर स्वर्ग को पधार गये।

७. जो प्रतिमास अश्वमेध यज्ञ करता है तथा जो मधु माँस नहीं खाता, दोनों का फल समान है।

८. हे राजन्! सप्तर्षि, बालखिल्य, मरीचि सभी माँसभक्षण न करने की प्रशंसा करते हैं।

अनुशासन पर्व का ११५ वाँ अध्याय तो माँस भक्षण त्याग की प्रशंसा से ही भरपूर है—उसमें लिखा है—

मनु का कहना है कि 'जो मांस नहीं खाता और न किसी का घात करता है वह सब प्राणियों का मित्र है। माँस को छोड़ने वाला सब जीवों का विश्वासभाजन होता है और साधुओं से आदरणीय होता है। धर्मात्मा नारद का कहना है कि जो पर के माँस से अपने माँस का पोषण करता है वह नियम से दुःख भोगता है। वृहस्पति का कहना है कि मधु माँस का त्याग करने से मनुष्य दानी, पूजक और तपस्वी होता है। 'जो वर्ष तक प्रतिमास अश्वमेध यज्ञ करता है तथा जो माँस नहीं खाता दोनों समान माने गये हैं। माँस का स्वाद जान लेने पर उसका छोड़ना कठिन है। अतः जो माँस को खाकर उसे छोड़ देता है सब वेद और सब यज्ञ भी उसके तुल्य नहीं हैं। जो सब प्राणियों को

अभयदान देता है वह प्राणों का दाता है इसमें कुछ भी संशय नहीं है। इस परम धर्म की सभी मनीषी प्रशंसा करते हैं।'

'जैसे हमें अपने प्राण प्रिय हैं, सभी प्राणियों को भी अपने-अपने प्राण प्रिय हैं। अतः सब को अपने समान ही मानना विद्वानों का कर्तव्य है। मृत्यु से सभी डरते हैं तब मांस के लिए नीरोग, निरापराधी और जीने के इच्छुक प्राणियों को मारना कितना बुरा है। अतः महाराज युधिष्ठिर! मांस का त्यागधर्म स्वर्ग और सुख का श्रेष्ठ आयतन है।···

'तृण, काष्ठ या पत्थर से मांस तैयार नहीं होता। किन्तु जीव को मार कर ही मांस बनता है। इस लिए मांस भक्षण में दोष है। जो मांस खाते हैं वे राक्षस हैं। यदि मांसभोजी न हों तो कोई घातक भी न हो। क्योंकि खाने वालों के लिए ही घातक घात करता है। जहाँ 'मांस अभक्ष्य है, यह भावना उत्पन्न हुई हिंसा तुरन्त दूर हो जाती है। क्योंकि खाने वालों के लिए ही मृग वगैरह की हिंसा की जाती है।'

'हिंसकों की आयु सदा खतरे में रहती है। अतः अपना भला चाहने वालों को मांस छोड़ देना चाहिए। जो रक्षक है उसके पास रौद्र सिंह वगैरह प्राणी भी आक्रमण नहीं करते हैं। जो पराये मांस से अपने मांस को बढ़ाना चाहता है वह सदा अविद्वान रहता है और इधर उधर भटका करता है। महर्षियों ने मांस के अभक्षण को यश, आयु, स्वर्ग और महत् कल्याण का कर्ता कहा है।'

हे कौन्तेय! पूर्व काल में मैंने मार्कण्डेय ऋषि से मांस भक्षण के जो दोष सुने थे वे इस प्रकार हैं—जो जीवन के इच्छुक प्राणियों का मांस खाता है, वे प्राणी चाहे स्वयं मरे हों या मारे गये हों। 'मरे हुए का मांस खाने वाला भी मारकर मांस खाने वाले के तुल्य ही है। वधक तीन होते हैं। जो मांस खरीदता है वह धन से वधक है, जो खाता है वह उपभोग से वधक है और जो मारता है वह वध और वन्ध करने के कारण वधक है। जो खाता तो नहीं है किन्तु खाने वाले की अनमोदना करता है वह भावदोष से लिप्त होता है। जो स्वयं तो नहीं मारता किन्तु मारते हुए को देखकर उसकी अनुमोदना करता है वह भी दोष से लिप्त होता है।

'प्राणियों का मांस न खाने वाला दयालु पुरुष निरोगी और आयुष्मान होता है। तथा कोई भी प्राणी उसे हानि नहीं पहुंचाता। श्रुति का वचन है कि स्वर्णदान, गोदान और भूमिदान से मांस के अभक्षण में विशिष्ट धर्म है।'

मांस भक्षण की इतनी बुराई करके भी मार्कण्डेय ऋषि शास्त्र-विहित माँस भक्षण की निन्दा नहीं कर सके। वे भी अप्रोक्षित्, विधि-हीन और वृथा माँस भक्षण का निषेध करते हैं। और प्रोक्षित मांस तथा ब्राह्मण काम्य माँस में अल्प दोष बतलाते हैं। मनु महाराज ने तो प्रोक्षित माँस का भक्षण अवश्य कर्तव्य बतलाया है। वे उसे अल्प-दोष बतलाते हैं। इतना ही दोनों में अन्तर है।'

आगे लिखा है—

'जो अधम पुरुष खाने वालों के लिए पशुवध करता है। वह खाने वाले से अधिक पापी है। जो अधम मनुष्य पूजा, यज्ञ और श्रुति के मार्ग को न जानकर माँस की लिप्सा से पशुघात करता है वह नरक का भागी है। लाने वाला अनुमोदन करने वाला, मारने वाला, पकाने वाला और खाने वाला ये सभी भक्षक हैं।'

इसके बाद पुनः मनु महाराज घुस बैठे हैं। और वेदोक्त माँस भक्षण को सुविहित करार दे दिया गया है। फिर माँस निषेध का प्रवाह प्रारम्भ हो गया है। लिखा है—

'सुना जाता है कि पूर्वकाल में धान्य के बने हुए पशु से धर्मा-त्मा पुरुष यज्ञ किया करते थे। ऋषियों को सन्देह हुआ। उन्होंने वसुराजा से पूछा। वसु ने अभक्ष्य मांस को भी भक्ष्य बता दिया। ऐसा करते ही वसु आकाश से पृथ्वी पर गिर पड़ा। पुनः पूछने पर भी वसु ने मांस को भक्ष्य बतलाया। और वह रसातल को चला गया।'

इस तरह वसु राजा के द्वारा अभक्ष्य मांस को भक्ष्य बतलाने का घोर दण्ड दिखला कर भी आगे लिखा है—'पितरों और देवता के उद्देश्य से माँस को प्रोक्षित करके खाने में कोई बुराई नहीं है। वास्तव में माँस से तर्पण करने पर पितरों को विशेष प्रसन्नता होती है।'

फिर आगे लिखा है—

राजन्। मांस के अभक्षण से सर्वसुखों की प्राप्ति होती है।

सौ वर्षों तक तपस्या करना और मांस भक्षण न करना दोनों का समान फल है। जो एक मांस तक सब मांसों का त्याग कर देता है वह सब दुःखों से छूटकर सुखपूर्वक जीता है। जो एक मास या पक्ष के लिए भी मांस छोड़ देता है वह ब्रह्मलोक में जाता है।

आगे ऐसे मांसत्यागी राजाओं की लम्बी तालिका दी है। और लिखा है—

'पूर्वकाल में इन राजाओं ने एक शारद मास में माँस नहीं खाया अतः वे स्वर्ग में गये। जो इस उत्तम अहिंसा धर्म को पालता है वह स्वर्ग लोक में बास करता है। जो धार्मिक पुरुष जन्म से ही मद्य माँस और मधु का त्याग कर देते हैं वे सब मुनि माने गये हैं। जो इस मांसभक्षणत्याग रूप धर्म को पालता है या सुनता है, वह कितना ही दुराचारी हो किन्तु नरक में नहीं जाता। हे राजन् ! जो ऋषियों से पूजित इस माँस भक्षण निषेध विधि को पढ़ता या सुनता है वह सब पापों से मुक्त होता है, जाति में विशिष्ट होता है जो यदि आपत्ति में हो तो आपत्ति से छूट जाता है। यदि बद्ध हो तो बन्धन से छूट जाता है रोगी हो तो रोग से मुक्त हो जाता है, दुखी हो तो दुःख से मुक्त हो जाता है। तिर्यञ्च योनि में जन्म नहीं लेता, रूपवान और ऋद्धिमान होता है। हे राजन् ! यह ऋषियों के द्वारा कहा गया मांस-त्याग में प्रवृत्ति और निवृत्ति का विधान तुम्हें कहा है।...

इससे आगे का ११६वां अध्याय भी अहिंसा की प्रशंसा से भरा हुआ है।

उसके प्रारम्भ में महाराज युधिष्ठिर पूछते हैं—

'इस लोक में माँसप्रेमी मनुष्य अनेक प्रकार के सुन्दर सुस्वादु व्यंजनों को उतना पसन्द नहीं करते जितना माँस को पसन्द करते हैं। अतः मेरी बुद्धि भ्रम में है। मैं माँस अभक्षण के गुण और मांस भक्षण के दोष सुनना चाहता हूं।'

इस पर भीष्म महाराज उत्तर देते हैं—

'हे भारत ! तुम्हारा कहना ठीक है कि मांस के तुल्य कोई रस नहीं। क्षतक्षीण और विषयी मनुष्यों के लिए माँस से बढ़ कर कोई चीज नहीं। मांस भक्षण से शीघ्र ही पुष्टि होती है, जीवन आता है। माँस से बढ़कर कोई भक्ष्य नहीं है। किन्तु कौरवनन्दन ! उसके त्याग में भी बहुत से गुण हैं।'

आगे त्याग के गुण बतलाते मृगया की भी प्रशंसा कर दी है और फिर अहिंसा की प्रशंसा के पुल बांधे गये हैं। इन पर्वों में पुनरुक्ति भी बहुत हैं, बार-बार एक ही बात दो चार शब्दों के हेर फेर से दे दी गई है। इन पर्वों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि महाभारत का कम से कम यह भाग तो किसी के द्वारा संगृहीत है या किसी मांसप्रिय ब्राह्मण ने बीच-बीच में मांस भक्षण को घुसेड़ दिया है अतः श्रीयुत सी० वी० वैद्य का यह कथन सर्वथा संगत प्रतीत होता है कि महाभारत ऐसी स्थिति में नहीं है कि उसके आधार पर कोई प्रामाणिक स्थिति का ज्ञान किया जा सके। फिर भी इतना तो प्रतीत होता ही है कि महाभारत को हिंसा प्रिय नहीं है, किन्तु अहिंसा ही प्रिय है। उसी पर उसमें विशेष जोर दिया गया है। इसके लिए शान्ति पर्व में तुलाधार और जाजलि का संबाद भी उल्लेखनीय है।

जाजलि एक तपस्वी था। उसकी जगह में पक्षियों ने अपना घोंसला बना लिया था और वे बराबर उसमें आते जाते थे। यह देखकर जाजलि को यह अभिमान हुआ कि मैंने धर्म को पा लिया। किन्तु उसी समय आकाशवाणी हुई कि तू तुलाधार के समान नहीं है। तब वह तुलाधार को खोजता हुआ वाराणसी नगरी में आया। वहां उसने वस्तुओं का क्रय विक्रय करते हुए तुलाधार को देखा। जाजलि को देखते ही तुलाधार उठ खड़ा हुआ और उसे आदरपूर्वक बैठाया और उसके आने का कारण पूछा।

जाजलि ने कहा कि तुम एक बनिये हो। सब तरह के रस, गन्ध, औषधि वगैरह बेचते हुए तुम्हें यह नैष्ठिक बुद्धि कैसे प्राप्त हुई? तब तुलाधार बोला—

'प्राणियों के साथ द्रोह न करके या अल्प द्रोह करके आजीविका करना ही उत्कृष्ट धर्म है और मैं उसी पर जीता हूँ। मद्य के सिवा मैं सब प्रकार के रसों का क्रय विक्रय करता हुआ भी न किसी से द्वेष करता हूं और न किसी से राग करता हूँ। सब प्राणियों में मेरे सम-भाव हैं, सब प्राणियों को जो अभयदान देता है वह अभय पद को प्राप्त करता है। अभयदान के तुल्य न कोई धर्म है, न होगा। मैं अहिंसक महात्माओं का अनुकरण करता हूँ।

• प्राणियों की अहिंसा से श्रेष्ठ दूसरा धर्म नहीं है। जिसमें कोई

प्राणी कभी भय नहीं खाता वह सब प्राणियों से अभय पाता है। सब दानों में अभयदान श्रेष्ठ है। यज्ञादि से होने वाले स्थूल धर्म से भिन्न एक सूक्ष्मधर्म है। उसे जानना शक्य नहीं है। उसमें बहुत से निन्हव घुसे हुए हैं। जो लोग वृषण का छेदन करते हैं, नाक बींधते हैं, बहुत बोझा लादते हैं, बांधते और दमन करते हैं तथा प्राणियों को मारकर खाते हैं उनकी तुम निन्दा क्यों नहीं करते ? मनुष्य मनुष्यों को ही दास बनाकर रखते हैं। रात दिन उन्हें बांधकर रखते और त्रास देते हैं। डांस मच्छरों से रहित देश में सुखपूर्वक पाले गये पशुओं को उनकी माताओं से जबरदस्ती अलग करके, डांस मच्छरों से पूर्ण तथा सकर्दम देश में ले जाते हैं। कुछ लोग उनसे अनुचित रूप से बोझा ढोने का काम लेते हैं। भ्रूण हत्या भी इन कामों के तुल्य नहीं है।

'कुछ लोग खेती को अच्छा समझते हैं। किन्तु कृषि जीविका भी बहुत बुरी है। हल से भूमि में रहने वाले प्राणी मर जाते हैं। गाय का नाम अघ्न्या है, उसे कौन मार सकता है ? जो गौ या बैल का वलिदान करता है वह बहुत बुरा करता है। हे जाजले ! राजा नहुष ने अनजान में गौ बैल की हत्या कर डाली थी। उसकी सृष्टि में सैकड़ों रोग फैल गये थे। ऋषियों ने नहुष से कहा कि तूने बड़ा अकार्य किया है। तेरे कारण ही हम लोग कष्ट भोग रहे हैं। तू भ्रूणघातक है। हम तेरा यज्ञ नहीं करेंगे।'

तुलाधार के उपदेश को सुनकर जाजलि बोला—'खेती से अन्न पैदा होता है। उसी से तुम भी जीते हो। पशु और औषधियों के व्यापार पर बनिये लोग जीते हैं। उनसे यज्ञ होता है। यह तुम क्या नास्तिक्य की बात करते हो ? यज्ञों की निन्दा करते हो। जीविका को छोड़ कर यह संसार कैसे रह सकता है।'

तब तुलाधार बोला—'मैं नास्तिक नहीं हूं और न यज्ञों की निन्दा करता हूं। किन्तु यज्ञ का ज्ञाता होना अत्यन्त दुर्लभ है। ब्राह्मणों ने अपने यज्ञों को छोड़ कर क्षत्रियों के यज्ञ अपना लिये। लोभी[1] और पैसे के दास आस्तिकों ने 'वेद केवल स्तुति परक है' यह

---

१. लुब्धैर्वित्तपरैर्ब्रह्मन्नास्तिकैः संप्रवर्तितम्।
वेदवादानविज्ञाय सत्याभासमिवानृतम् ॥६॥
इदं देयमिदं देयमिति चायं प्रशस्यते।
अतः स्तैन्यं प्रभवति विकार्याणि च जाजले ॥७॥

न जानकर झूठ को सत्य की तरह माना और ज्योतिष्टोम आदि यज्ञ चला डाले। जिन यज्ञों में प्रभूत दक्षिणा मिलती उनकी प्रशंसा की गई।

यज्ञों से ही चोरी और अकर्म को बल मिला : क्योंकि यदि यजमान लोभी हुआ और उसने सामर्थ्य होते हुए भी दक्षिणा नहीं दी तो चोरी और अकर्म किये गये।" "सुकृतरूपी हव्य से ही देवता प्रसन्न होते हैं। वह हव्य तीन प्रकार का है—नमस्कार रूप, स्वाध्याय रूप और औषध रूप। इन तीन से ही देवताओं की पूजा की जाती है। कामना वाले यज्ञों से कामनावाली सन्तान ही पैदा होती है। ऋत्विज और यजमान सकाम या अकाम जैसे होते हैं वैसी दोनों की सन्तान होती है।"

"ज्ञानी पुरुष स्वर्ग की इच्छा नहीं करते, न धन साध्य कर्मों से ही यजन करते हैं। वे सज्जनों के मार्ग पर चलते हैं। और जिसमें हिंसा न हो ऐसा यज्ञ करते हैं। वे वनस्पति, औषधि और फल मूल को जानते हैं। धनार्थी ऋत्विज उन निर्धनों का यज्ञ नहीं करते हैं। ब्राह्मण जन प्रजा के कल्याण की भावना से अपने को ही सामग्री बनाकर यज्ञ (मानसिक) किया करते थे। अतः लोभी ऋत्विज बुरे मनुष्यों के लिये ही यज्ञ करने लगे। उन मानसिक यज्ञ करने वाले विप्रों के लिए बैल स्वयं भार ढोते थे, गायें स्वयं दूध देती थीं जो ऐसा शुद्ध चित्त योगी हो वह गाय का बलिदान कर सकता है। जो मूढ़ हैं वे गौ वगैरह से यज्ञ नहीं कर सकते।'

जाजलि और तुलाधार का यह संवाद कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है। यह केवल याज्ञिकी हिंसा के विरुद्ध पैदा हुई प्रतिक्रिया का ही निदर्शन नहीं है किन्तु ब्राह्मणत्व के अहंकार पर भी करारी चोट है। इसमें एक तपस्वी किन्तु अहंकारी ब्राह्मण को एक बणिक के सामने उपस्थित करके बणिक के मुख से उल्टा ब्राह्मण को धर्मोपदेश कराया है। यही पौराणिक संस्कृति है जो वैदिक और श्रमण संस्कृति के संघर्षण के फल स्वरूप जन्मी थी। अस्तु

उक्त संवाद युधिष्ठिर को सुनाकर भीष्म पितामह ने उसकी पुष्टि करते हुए कहा—

"मर्यादाशून्य, विमूढ़ नास्तिक मनुष्यों ने हिंसा का कथन किया है। धर्मात्मा मनु ने तो सब कार्यों में हिंसा न करना ही बतलाया है।

मनुष्य अपनी इच्छा से ही यज्ञ की बाह्य वेदी में पशुघात करते हैं। अतः प्रमाणों का बलाबल जान कर सूक्ष्म धर्म को ही करना चाहिए। अहिंसा सब धर्मों से श्रेष्ठ है। यदि मनुष्य[1] यज्ञादिक के उद्देश्य से ही मांस खाते हैं और वृथा मांस नहीं खाते तो यह प्रशंसनीय नहीं है। सुरा, मत्स्य, मधु, मांस, आसव आदि के सेवन का विधान वेदों में नहीं है, यह तो धूर्तों ने चलाया है। ब्राह्मण तो सब यज्ञों में विष्णु को ही जानते हैं।"

शान्ति पर्व में ही एक गौ और कपिल का संवाद है। घटना इस प्रकार है—राजा नहुष ने यज्ञ करने के लिए गौ के हनन की तैयारी की। यह देखकर ज्ञानी कपिल के मुख से निकला—"वाहरे वेद"। यह सुनकर स्यूमरश्मि नामक एक ऋषि गौ के शरीर में प्रविष्ट होकर कपिल से बोला—"यदि वेद को तुम निंद्य मानते हो तो हिंसा-शून्य धर्म कैसे प्रमाण हैं" वेद तो तृष्णारहित, निरारम्भ ईश्वर का निश्वास है उसे अप्रमाण कौन कह सकता है? श्रुति का कथन है, बकरा, घोड़ा, गौ, पक्षी, औषधी वगैरह प्राणों के लिए अन्न है। यज्ञ लोकस्थिति का मूल है। घी, दूध, दही, गोमय, गौ के चर्म, बाल, सींग, पैर, वगैरह से यज्ञ होता है।' इत्यादि से यज्ञों की वकालत की गयी है। तब कपिल ऋषि बोले—'न मैं वेदों की निन्दा करता हूं और न मैं उन्हें विषम ही बतलाता हूं। किन्तु फल के बलाबल का बिचार करके ही प्रवृत्ति करना युक्त है। जिस विद्वान के उपस्थ, उदर, बाहु और वाणी ये चारों द्वार सुगुप्त हैं वही द्विज है। किन्तु जिसके द्वार सुगुप्त नहीं हैं उसका जप और यज्ञ सब बेकार है। जो प्राणियों को अभय करता है और जिसे सब प्राणियों से अभय मिलता है वही ब्राह्मण है। इत्यादि रूप से कपिल अहिंसा का समर्थन करता है।

आगे एक और कथानक है जो इस प्रकार है—"एक उञ्छवृति ऋषि ने मूल फलों से यज्ञ करने का बिचार किया। जिस बन में यज्ञ

---

१. यदि यज्ञाश्च वृक्षाश्च यूपाश्चोद्दिश्च मानवाः।
बृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते ॥८॥
सुरा मत्स्या मधु मांसयासवं कृतरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतन्नैतद्वेदेषु कल्पितम् ॥९॥ अ० २६५

हुआ उसी में शक्र की आज्ञा से पर्णादि नाम का धर्मवेत्ता मृग हुआ। उसने मूल फल से यज्ञ होता देखकर कहा कि "यह यज्ञ अंग हीन है। यदि तुम में पशु खरीदने की शक्ति न हो तो मुझे यज्ञ में हव्य करके तुम स्वर्ग जाओ। उसी समय सावित्री देवी प्रकट हुई और यज्ञ में मृग के बलिदान का निषेध करके उसी यज्ञ पावक में समा गई। मानो वे यज्ञ में आने वाले अनर्थ को देखना नहीं चाहती थी। तब हिरण ने पुरोहित सत्य से पुन: अपना बलिदान करने की प्रार्थना की उसका बलिदान किया गया। उसके प्रभाव से उसका चिरसंचित तप नष्ट हो गया। अतः हिंसा यज्ञ का अंग नहीं है।

अध्याय ३४० में वैष्णव यज्ञ का विधान है। और यह भी लिखा है—कि यह कृत युग है इसमें यज्ञ में पशुओं की हिंसा नहीं करना चाहिए। आगे त्रेता युग में पशुओं का बलिदान यज्ञ में किया जायेगा। उस समय धर्म तीन पैर पर खड़ा रहेगा। फिर द्वापर आयेगा उसके बाद कलियुग आयेगा। उसमें धर्म एक पैर पर स्थित रहेगा।

भगवान के ऐसा कहने पर उनसे पूछा गया कि उस समय क्या करना चाहिए। तो भगवान बोले—'जहाँ अहिंसा धर्म से संयुक्त देवता गण बिहार करते हों उसी देशमें बसना चाहिए।"

महाभारत का युद्ध समाप्त हो चुकने पर महाराज युधिष्ठिर को बहुत पश्चाताप हुआ और उन्होंने इस पाप का प्रायश्चित्त करना चाहा। वैदिक ब्राह्मणों की दृष्टि से अश्वमेध से अच्छा प्रायश्चित्त और क्या हो सकता था। फलतः अश्वमेध कराया गया, जिसमें तत्-तत् देवता के लिये उसके प्रिय पशु का प्रबन्ध किया गया। ३०० पशु खूटों[1] से बाँध दिये गये। ब्राह्मण श्रेष्ठों ने सब पशुओं को बिधि पूर्वक मार डाला। उसके बाद अश्व भी शास्त्रानुसार हलाल किया गया। उसके पास द्रोपदी को सुलाया गया। अश्व की वपा निकालकर उससे यज्ञ किया गया फिर शेष अंग भी होम दिए गये। यज्ञ की समाप्ति के बाद ब्राह्मणों की दक्षिणा का नम्बर आया। एक हजार करोड़ निष्कों के साथ सारी पृथ्वी ब्राह्मणों को दे दी गयी। फिर पृथ्वी के बदले में

१. तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा।
तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद्धिंसा न यज्ञिया ॥ अ० २७३

असंख्य धन दिया गया। ब्राह्मण मालामाल होकर पाण्डवों का जय-जयकार करते हुए अपने-अपने घर गये।

इधर जब महाराज युधिष्ठिर का जय-जयकार हो रहा था। एक नेवला मनुष्य की वाणी में बोला—'राजन्! कुरुक्षेत्र के निवासी और खेत में गिरा हुआ अन्न बीन कर आजीविका करने वाले दानी के एक प्रस्थ सत्तुदान के तुल्य भी यह यज्ञ नहीं है। यह सुनकर सब ब्राह्मण बड़े अचरज में पड़े और नकुल से सब बात पूछी। तब नकुल बोला—कुरुक्षेत्र में एक धर्मात्मा ब्राह्मण अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्र-बधू के साथ रहता था। सब लोग तीसरे दिन भोजन करते थे। किन्तु तीसरे दिन भी कभी भोजन मिल जाता था कभी नहीं भी मिलता था। एक बार दुर्भिक्ष पड़ा। भोजन मिलना दुर्लभ हो गया। सब के सब भूखे रहने लगे। एक बार वे कई दिन के भूखे थे। ब्राह्मण को एक प्रस्थ जौ मिल गये। उनका सत्तु बनाया गया। धार्मिक कृत्य करके सबने एक-एक भाग सत्तु का बाँट लिया। उसी समय एक भूखा अतिथि द्वार पर आ गया। सब ने प्रसन्नता पूर्वक अतिथि को अपनी कुटी में बैठाया। सबने क्रमशः अपना-अपना भाग अतिथि को दे दिया। उस दान के फल से वह ब्राह्मण सशरीर और सकुटुम्ब स्वर्ग चला गया। उनके चले जाने के बाद मैं (नेवला) अपने बिल से निकला। वहाँ पड़े हुए जल, सत्तु की गन्ध, और ब्राह्मण के तप के प्रभाव से मेरा आधा शरीर सोने का हो गया। अब मैं शेष आधे शरीर को सोने का करने के लिए यज्ञों में तपोवनों में घूमता फिरता हूं। यहां भी यज्ञ की खबर सुनकर आया था किन्तु मैं यहाँ सोने का नहीं हुआ। इसी से मैंने कहा है कि एक प्रस्थ सत्तूदान के तुल्य यह यज्ञ नहीं है।

इस आख्यान को सुनकर जनमेजय ने वैशम्पायन से पूछा कि यज्ञ फल के तुल्य तो कुछ भी नहीं है, फिर उस नकुल ने यज्ञ की निन्दा क्यों की? तब वैशम्पायन बोले—एक बार इन्द्र ने यज्ञ किया। उसमें जब पशुओं का बलिदान किया जाने लगा तो ऋषियों को दया आ गई। ऋषियों ने इन्द्र से कहा—'यह यज्ञ की विधि नहीं है। तुम्हारा यह महा अज्ञान है। यज्ञों में पशुओं का बलिदान नहीं होता। तुमने यह धर्मघातक समारम्भ किया है। हिंसा को धर्म नहीं

कहते। तुम तीन वर्ष पुराने धान्य से यज्ञ करो। इस से महान फल मिलेगा।'

किन्तु इन्द्र ने अहंकार में ऋषियों की बात नहीं मानी। अतः यज्ञ में यह महान विवाद खड़ा हो गया कि स्थावर वनस्पति से यज्ञ करना चाहिए अथवा जंगम प्राणियों से यज्ञ करना चाहिए। तब इन्द्र ने वसुराजा से पूछा कि वृषश्रेष्ठ, आगम का क्या विधान है ? क्या पशुओं से यज्ञ करना चाहिए, अथवा धान्यबीज से ? वसु ने बलाबल का विचार न करके उत्तर दिया—'लाये गए पशुओं से ही यज्ञ करना चाहिए।, इतना कहते ही राजा वसु रसातल में समा गया।
एक आख्यान इसी पर्व में और भी है—

एक बार वर्षा नहीं हुई ! अगस्त्य ऋषि ने यज्ञ किया। फिर भी कुछ फल नहीं निकला। तब अगस्त्य ऋषि ने प्रतिज्ञा[1] की कि मैं धान्यबीजों से वर्षों तक यज्ञ करूंगा इसमें कोई विघ्न नहीं कर सकेगा। मेरे इस यज्ञ को वृथा करन की शक्ति किसी में भी नहीं है— इत्यादि।

यह बात सुनकर और अगस्त्य के तप का प्रभाव देखकर ऋषिगण प्रसन्न हुए। उन्होंने कहा[2] कि हम तुम्हारे पहले यज्ञों से ही सन्तुष्ट हैं। आपको अहिंसा इष्ट है यह बहुत अच्छी बात है। अब आप सदा यज्ञों में इस अहिंसा का ही प्रतिपादन किया करें।' इसके बाद बर्षा हुई।

ऊपर के कथानकों से स्पष्ट है कि महाभारत के द्वारा मुख्य रूप से अहिंसक यज्ञों का प्रतिपादन करना ही उसके कर्ता या कर्ताओं को इष्ट था। यद्यपि कहीं कहीं उसमें हिंसा का भी विधान आ गया है तथापि मुख्य प्रतिपाद्य विषय अहिंसा ही है। वेदों में हिन्सा वगैरह के विधान को धूर्तों के द्वारा कल्पित बतलाना तो वैदिक हिंसा के तत्कालीन विरोध और उसके प्रति तीव्र घृणा का संसूचक है। परन्तु

---

१. "बीजयज्ञो मयाऽयं वै बहुवर्षसमाचितः।
बीजैर्हितं करिष्यामि नात्र विघ्नो भविष्यति॥
नेदं शक्यं वृथा कर्तुं मम सत्रं कथञ्चन।" आश्वमे०, अ० ९२

२. भवतः सम्यगिष्टा तु बुद्धिर्हिंसाविवर्जिता।
एतामहिंसां यज्ञेषु ब्रूयास्त्वं सततं प्रभो॥

उन तथोक्त धूर्तों ने महाभारत को भी अपनी धूर्तता से अछूता नहीं छोड़ा यह स्पष्ट है।

महाभारत में प्रतिपादित अहिंसा का संक्षेप में इस प्रकार वर्गीकरण किया जा सकता है—

मन, वचन कार्य से तथा कृत कारित और अनुमोदना से प्राणि-वध नहीं करना अहिंसा है। अतः—

१. माँस भक्षण नहीं करना, मांस[1] के साथ-साथ मद्य और मधु का भी सेवन न करना
२. खाने वाले के लिए, जीव घात नहीं करना।
३. मांस[2] को लाने वाला[3], अनुमोदना करने वाला, मारने वाला, बेचने और खरीदने वाला, पकाने वाला तथा खाने वाला ये सब हिंसक हैं।
४. पूजा[4] यज्ञ और श्रुति के लिये जीवघात नहीं करना।
५. मृगया नहीं करना।

अन्त में फिर भी यही कहना पड़ता है कि महाभारत एक संग्रह ग्रन्थ है और उसमें समय-समय पर समयानुसार बातों का संकलन होता रहा है। इसी से वह भारत से महाभारत बन गया है। उसमें ऐसे तत्वों का समावेश है जो परस्पर विरोधी कहे जा सकते हैं। और इसके लिए उस आधार पर कोई निर्णय कर सकना शक्य नहीं है। फिर भी उसकी टोन अहिंसा के प्रति ही अधिक झुकी हुई है और वह उसी को धर्म मानता है जो अहिंसा[5] से संयुक्त हो, क्योंकि उसकी दृष्टि से धर्म का प्रवचन अहिंसा के लिये ही किया गया है।

---

१. मधुमांसं च मे नित्यं वर्जयन्तीहधार्मिकाः।
जन्मप्रभृति मद्यं च सर्वे ते मुनयः स्मृताः ॥७६॥

२. खादकस्य कृते जन्तून् यो हन्यात् पुरुषाधमः।
महादोषतरस्तत्र घातको न तु खादकः ॥४६॥

३. आहर्ता चानुमन्ता च विशस्ता क्रयविक्रयी।
संस्कर्ता चोपभोक्ता च खादकाः सर्व एव ते ॥४६॥

४. इज्या यज्ञ श्रुतिकृतैर्यो मार्गैरबुधोऽधमः।
हन्याज्जन्तून् मांसगृध्नुः स वै नरकभाङ्नरः ॥४७॥

५. अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥१२॥ अ० १०९१

शान्तिपर्व के प्रारम्भ में अध्याय ३३ में युधिष्ठिर को वैसा ही विषाद करते हुए पाते हैं जैसा विषाद अर्जुन को युद्ध के आरम्भ में हुआ था। और जिस प्रकार के वचनों से अर्जुन का विषाद दूर किया गया था उसी प्रकार के वचनों से युधिष्ठिर का भी विषाद दूर करने की चेष्टा की गई है।

युधिष्ठिर विषाद करते हुए कहते हैं—'मैंने पुत्र, पौत्र, भाई, गुरु, श्वसुर, मामा, पितामह, मित्र, भान्जे आदि सम्बन्धियों की तथा सजातीय क्षत्रियों की हत्या की है, यह पृथ्वी शूर वीरों से शून्य हो गई है, इसे सोचकर मैं रात दिन जला करता हूं, अपने पति, पुत्र और भाइयों से हीन स्त्रियों की आज क्या दशा होगी ? वे हमें कोसती होंगीं, अपने सम्बन्धियों के अभाव में वे अवश्य ही मर जायेंगी और तब मुझे स्त्री हत्या का भी पाप लगेगा।

युधिष्ठिर के इस विषाद को शान्त करने के लिए व्यास महाराज कहते हैं—'राजन् ! क्षात्रधर्म का स्मरण करके विषाद मत करो, ये सब क्षत्रिय अपने-अपने धर्म से मारे गये हैं, कोई किसी को नहीं मारता है। यह काल ही सब के प्राण लेवा है। आदि गीता के द्वारा भी अर्जुन का व्यामोह इसी प्रकार दूर किया गया था—आत्मा अविनाशी है, शरीर के नष्ट हो जाने पर भी यह नष्ट नहीं होता अत: इसको नाशी समझ कर सोच करना वृथा है। न यह किसी का घात करता है और न किसी के द्वारा घाता जाता है, आदि।

इसी पर्व में आगे लिखा है कि यदि पुत्र, भाई पिता, अथवा मित्र अर्थ में विघ्न डालें तो उन्हें मार डालना चाहिए यह सब राजनीति है और इसमें छल छद्म सभी उचित बतलाये गए हैं किन्तु वृद्ध बालक और स्त्री को अवध्य बतलाया है किन्तु अ० ६४ के प्रारम्भ में अयुद्ध विजय से युद्ध विजय को जघन्य बतलाया है।

---

१. 'अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद्। जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप ।।११।।

बौद्ध धर्म और अहिंसा

बौद्धधर्म अनात्मवादी है, वह आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता, फिर भी आज के युग में उसके संस्थापक महात्मा बुद्ध अहिंसा धर्म के एक अवतार माने जाते हैं। वे एक क्षत्रिय पुत्र थे और युवावस्था में ही घर-बार छोड़कर विरक्त हो गये थे। सुत्तनिपात में बताया है कि गृहस्थी में रहते हुये उन्हें किस प्रकार वैराग्य उत्पन्न हुआ। बुद्ध कहते[1] हैं—'अपर्याप्त जल में जिस प्रकार मछलियां तड़पती हैं उसी प्रकार एक दूसरे का विरोध कर तड़पने वाली जनता को देख कर मेरे अन्तःकरण में भय का संचार हुआ। चारों ओर से संसार असार जान पड़ने लगा। संदेह हुआ कि दिशायें कांप रही हैं। उनमें आश्रय की जगह खोजते हुए मुझे निर्भय स्थान मिलता नहीं था। अन्त तक सारी जनता एक दूसरे के विरुद्ध ही दिखाई देने के कारण मेरा मन उद्विग्न हुआ।'

उद्विग्न होकर बुद्धदेव ने निर्वाण की खोज में प्रस्थान किया और बुद्धगया में चार आर्यसत्यों को खोज निकाला। वे चार ये हैं—दुःख, दुःख के कारण, दुःख का निरोध और दुःख निरोध के कारण। जाति (जन्म) दुःख कारक है, जरा दुःख कारक है, व्याधि दुःखकारक है मरण दुःखकारक है, अप्रिय समागम और प्रिय वियोग दुःखकारक है, यह पहला आर्य सत्य है। पुनः पुनः उत्पन्न होने वाली और अनेक विषयों में रमने वाली तृष्णा दूसरा आर्य सत्य है। वैराग्य से तृष्णा का निरोध करके उससे मुक्ति प्राप्त करना तीसरा आर्य सत्य है। और सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीव, सम्यक् व्यायाम, सम्यक्। स्मृति और सम्यक् समाधि यह अष्टांगिक मार्ग चौथा आर्य सत्य है।

चारों आर्य सत्यों के ठीक-ठीक ज्ञान को सम्यक् दृष्टि कहते हैं। अद्रोह, अहिंसा सम्बन्धो संकल्प को सम्यक् संकल्प कहते हैं। मृषा, पिशुन, परुष और वृथा वचन से विरक्त होना सम्यक् वचन है।

---

१. भा० सं० और अहिंसा, पृ० ५२।

प्राणिहिंसा से विरत होना, बिना दिये लेने से विरत होना, दुराचार से विरत होना सम्यक् मर्मान्त है। मिथ्या जीविका छोड़कर सम्यक् जीविका से जीवन यापन करना सम्यक् आजीव है। अनुत्पत्ति के लिए निश्चय करना, परिश्रम करना, उद्योग करना, चित्त को रोकना, उत्पन्न अकुशल धर्मों के विनाश का निश्चय करना, परिश्रम करना आदि, अनुत्पन्न कुशल धर्मों की उत्पत्ति के लिए निश्चय करना, उद्योग करना आदि, उत्पन्न कुशल धर्मों की स्थिति, परिपूर्णता आदि का निश्चय करना, उद्योग करना आदि सम्यक् व्यायाम है। शरीर में अशुचि जरा आदि का अनुभव करते हुए, लोक में दौर्मनस्य और लोभ को छोड़कर विहरना सम्यक् स्मृति है। काम से और अकुशल धर्मों से अलग हो ध्यान को प्राप्त हो विहरना सम्यक् समाधि है। इस तरह सम्यक् कर्म में अहिंसा, अस्तेय और अव्यभिचार का समावेश होता है। और हिंसात्मक साधनों से आजीविका न करने का समावेश सम्यक् आजीव में होता है।

यह बताया गया है कि बुद्ध के पूर्व यज्ञ-यागों का बहुत जोर था। किन्तु जनता में उनके प्रति अरुचि फैलती जाती थी। राजभय से ही लोग उनमें सम्मिलित होते थे। इस सम्बन्ध में बौद्धग्रंथ में एक घटना का उल्लेख इस प्रकार किया है—बुद्ध[1] भगवान् श्रावस्ती में थे। उस समय कोसलराज प्रसेनजीत् महायज्ञ करता था। उसमें पाँच सौ बैल, पाँच सौ बछड़े, पाँच सौ बछिया, पाँच सौ बकरे और पाँच सौ भेड़ यज्ञ के लिए यूपस्तम्भों से बंधे थे। राजा के दास, दूत तथा दूसरे कर्मचारी दण्डभय से भयभीत हो रोते हुए यज्ञ के सब काम करते थे। यह स्थिति कुछ भिक्षुओं ने देखी और भगवान् को इसकी सूचना दी। तब भगवान् ने कहा—अश्वमेध, नरमेध, सम्यक् पाश, वाजपेय और निरर्गल यज्ञ बहुत खर्चीले हैं पर महत्फलदायक नहीं। जिस यज्ञ में भेड़, बकरे, गाय, बैल आदि विविध प्राणी मारे जाते हों उसमें सन्त महर्षि नहीं जाते। पर जिस यज्ञ में प्राणियों की हिंसा नहीं होती, भेड़, बकरे, गाय-बैल, नहीं मारे जाते और जो लोगों को अच्छा लगता है उसमें सन्त, महर्षि जाते हैं। इसलिए सुज्ञ पुरुष को ऐसा यज्ञ करना चाहिए।"

---

१. भा० सं० और अहिंसा, पृ० ६१।

इस प्रकार के और भी अनेक उदाहरण बौद्ध-साहित्य में मिलते हैं। अतः यह तो स्पष्ट ही है कि बुद्ध याज्ञिक हिंसा के प्रबल विरोधी थे। इसी से जब बुद्ध को ब्राह्मण धर्म के चौबीस अवतारों में सम्मिलित कर लिया गया तो कविवर जयदेव ने अपने गीत गोविन्द में बुद्धावतार की स्तुति करते हुए लिखा है—निन्दसि यज्ञविधे रहय-हृदय-दर्शित-पशुघातं केशवधृतबुद्ध शरीर।

धम्म पद में लिखा[1] है—

'दण्ड से सभी डरते हैं, मृत्यु से सभी भय खाते हैं। अपने समान जानकर न मारे और न मारने की प्रेरणा करे।'

'सुख चाहने वाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से जो दण्ड से मारता है, वह मरकर सुख नहीं पाता। सुख चाहने वाले प्राणियों को अपने सुख की चाह से जो दण्ड से नहीं मारता वह मरकर सुख को प्राप्त होता है।'

'चर अचर सभी प्राणियों में प्रहार विरत हो, जो न मारता है, न मारने को प्रेरणा करता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।'

'जो विरोधियों के बीच विरोध रहित रहता है, जो दण्डधारियों के बीच दण्ड रहित रहता है, संग्रहकारियों में जो संग्रह रहित है उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।'

'जो अकर्कश आदरयुक्त सच्ची वाणी को बोलता है, जिससे कुछ भी पीड़ा नहीं पहुंचती उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।'

'चाहे दीर्घ हो या ह्रस्व, मोटी हो या पतली, शुभ हो या अशुभ, जो संसार में बिना दी हुई चीज को नहीं लेता उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।'

मांसाहार

इस तरह महात्मा बुद्ध ने किसी प्राणी को मारने या मारने की प्रेरणा करने का निषेध किया है। किन्तु यदि कोई प्राणी स्वयं मर गया हो, या अपने उद्देश्य से न मारा गया हो, अपने लिए मारा जाना न देखा हो, न सुना हो और न वैसी शंका हो तो उस प्राणी का मांस ग्रहण करना भिक्षु के लिए वर्जित नहीं है। ऐसा मांस

---

१. गा० १२९-१३१, ४०५-४०६।

त्रिकोटि परिशुद्ध कहलाता है और त्रिकोटि परिशुद्ध मांस ग्राह्य है। वैसे लंकावतार सूत्र में मांस भक्षण का निषेध है। 'शिक्षा समुच्चय'[1] नामक बौद्ध ग्रंथ में लिखा है कि मत्स्य और मांस से अपनी रक्षा नहीं करनी चाहिए, क्योंकि लंकावतार सूत्र में मत्स्य और माँस भक्षण का निषेध किया है। उसमें लिखा है—"दयालु बोधिसत्व के लिए सभी मांस अभक्ष्य हैं।'

रज और वीर्य से पैदा होने के कारण तथा प्राणियों के उद्वेग का कारण होने से योगी को मांस नहीं खाना चाहिए। मांस, मद्य, प्याज और लहसुन योगी को नहीं खाना चाहिए। जो अपने लाभ के लिए प्राणी की हत्या करता है और मांस के लिए धन देता है वे दोनों पापी हैं। जो दुर्बुद्धि महात्मा बुद्ध के वचन को न मानकर मांस भक्षण करता है वह दोनों लोकों का नाश करने के लिए बुद्ध धर्म में दीक्षित हुआ है। माँस भक्षी रौरव आदि भयानक नरकों में पाप का फल भोगते हैं। अकल्पित, अयाचित और अप्रेरित अत्रिकोटि परिशुद्ध मांस नहीं होता, इसलिए मांस नहीं खाना चाहिए। मांसभक्षी कुल में उत्पन्न हुए प्राणी परस्पर में ही एक दूसरे को खा जाते हैं। और मर-कर मांसभक्षी चाण्डाल और डोमों के कुल में, तथा डाकिनी जाति में पैदा होते हैं। लंकावतार सूत्र में मैंने मांस की निन्दा की है। यदि कोई निर्लज्ज बुद्धों, बोधिसत्वों और श्रावकों के द्वारा निन्दित मांस को खाता है तो वह सदा उन्मत्त रहता है। किन्तु मांस भक्षण का त्याग करने से मनुष्य ब्रह्मणों और योगियों के कुल में जन्म लेता है। तथा बुद्धिमान् और धनवान् होता है। अतः जिसमें दृष्ट—मेरे लिये मारा गया, ऐसा देखा हो, श्रुत—मेरे लिये मारा गया ऐसा सुना हो, विशंक—मेरे लिए मारा गया ऐसी शंका हो, वह सब मांस त्याज्य है। जैसे यह रोग मोक्ष को विघ्न डालने वाला है वैसे ही मांस, मद्य वगैरह भी मोक्ष की प्राप्ति में विघ्न डालने वाले हैं। भविष्य में मांस-भक्षी मोही जीव ऐसा कहेंगे कि बुद्ध ने मांस को निर्दोष बतलाया है।—अतः मनुष्यों को उद्वेग पैदा करने वाला मांस नहीं खाना चाहिए। क्योंकि वह मोक्ष धर्म का विरोधी है।'

---

१. 'एवं तावत्सतत भेषज्येनात्मभावरक्षा कार्या। तत्रापि न मत्स्यमांसेन लंका-वतारसूत्रे प्रतिषिद्धत्वात्।' शि० स०, पृ० १३१।

लंकावतार सूत्र के उक्त उद्धरणों से तो त्रिकोटि परिशुद्ध मांस भी अभक्ष्य ही ठहरता है, क्योंकि उसका कहना है कि कोई मांस त्रिकोटि परिशुद्ध नहीं होता। इसी से उसमें[1] केवल अपने उद्देश्य से मारे गए पशु के मांस का ही निषेध नहीं किया किन्तु स्वयं मरे हुये प्राणी के भी मांस का निषेध किया है।

इस तरह बौद्ध धर्म में साधारणतया तो मांस अभक्ष्य ही है, किन्तु त्रिकोटि परिशुद्ध मांस के भक्षण को लेकर हीनयान् और महायान् में मतभेद है। एक उसे भक्ष्य बतलाता है तो दूसरा अभक्ष्य बतलाया है। हम ऊपर लिख आये हैं कि बुद्ध बहुत दयालु थे। जो कोई भिक्षु उनके सामने अपनी कठिनाई रखता था वे तुरन्त अपने नियमों में परिवर्तन कर देते थे। विनयपिटक को, जिसमें भिक्षुओं का आचार बतलाया है, देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

एक[2] भिक्षु को अमनुष्य (भूत प्रेत) का रोग था। आचार्य उपाध्याय उसकी सेवा करते-करते नीरोग नहीं कर सके। सुअर मारने के स्थान पर जाकर उसने कच्चे मांस को खाया, कच्चे खून को पिया। और उसका वह रोग शान्त हो गया। भगवान ने यह बात कही—

'भिक्षुओ! अनुमति देता हूं अमनुष्य वाले रोग में मांस और कच्चे खून की।'

उस[3] समय रोगी भिक्षुओं को चर्बी की दवाई का काम था। भगवान ने यह बात कही—

'भिक्षुओ! अनुमति देता हूं चर्बी की दवाई की। रीछ की चर्बी, मछली की चर्बी, सोंस की चर्बी, सुअर की चर्बी, गदहे की चर्बी।'

'उस[4] समय षड्वर्गीय भिक्षु गाय के चाम को धारण करते थे। उसे चारपाई पर बिछाते थे। उस समय एक दुराचारी भिक्षु एक दुरा-

१. :तत्र उद्दिश्यकृतानि प्रतिषिद्धानि, ततोऽन्तशः प्रकृतिमृतान्यपि प्रतिषिद्धानि।'

२. विनयपिटक, पृ० २१८।

३. वही, पृ० २६१।

४. वही, पृ० २६१।

चारी उपासक के घर गया। उस उपासक के पास एक तरुण, सुन्दर, दर्शनीय चितकबरा बछड़ा था। भिक्षु की दृष्टि उस बछड़े पर टिक गई। उपासक ने इसका कारण पूछा। भिक्षु ने कहा मुझे उसका चमड़ा चाहिए। उपासक ने बछड़े को मारकर उसका चमड़ा भिक्षु को दे दिया। भिक्षु उसे अपने वस्त्र में छिपा कर वहां से चला। उस बछड़े की माता गाय ने भिक्षु का पीछा किया। भिक्षु का वस्त्र भी खून से सन गया था। अन्य भिक्षुओं ने देखा और उससे पूछा—"क्या तूने प्राणहिंसा की प्रेरणा की? उसने स्वीकार किया। भिक्षु हैरान थे कि कैसे कोई भिक्षु प्राणहिंसा की प्रेरणा करेगा? भगवान ने तो अनेक प्रकार से प्राणहिंसा की निन्दा और प्राणहिंसा के त्याग की प्रशंसा की है। उन भिक्षुओं ने भगवान् से यह बात कही। बुद्ध ने उस भिक्षु को फटकारा और कहा—"भिक्षुओं! प्राणहिंसा की प्रेरणा नहीं करनी चाहिये। गाय का चाम नहीं धारण करना चाहिए। कोई भी चाम नहीं धारण करना चाहिए।

किन्तु उस समय लोगों की चारपाइयां चौकियां चमड़े से मढ़ी होती थीं। भिक्षु संकोच करके उन पर नहीं बैठते थे। भगवान से यह बात कही और भगवान ने बैठने की अनुमति दे दी।"

एक दूसरा उदाहरण इस प्रकार है—

वाराणसी नगरी में एक सुप्रिया नाम की उपासिका थी। एक दिन वह आराम में जाकर भिक्षुओं से पूछती फिरती थी कि कौन रोगी है किसके लिए क्या लाना चाहिए? एक भिक्षु ने जुलाब लिया था उसके लिये पथ्य की आवश्यकता थी। सुप्रिया ने घर जाकर नौकर को आज्ञा दी—"जा, तैयार मांस खोज ला।" किन्तु सारी नगरी को खोज डालने पर भी तैयार मांस न मिला। उसने लौटकर सुप्रिया से कहा कि तैयार मांस नहीं है, आज मारा नहीं गया। तब सुप्रिया ने अपनी जांघ का मांस काटकर, पथ्य तैयार करा, भिक्षु को भेजा।

जब भगवान को ज्ञात हुआ तो उन्होंने भिक्षुसंघ को एकत्र कर भिक्षुओं से पूछा—"किसने सुप्रिया उपासिका से मांस मांगा?" उस भिक्षु ने स्वीकार किया कि मैंने सुप्रिया उपासिका से मांस मांगा।

"लाया गया भिक्षु?"

"(हां) लाया गया भगवन्।"

"खाया तूने भिक्षु।"

"खाया मैंने भगवन्।"

"समझा बूझा तूने भिक्षु ?"

"नहीं भगवन्! मैंने (नहीं) समझा बूझा।"

बुद्ध भगवान् ने फटकारा—"कैसे तूने मोघपुरुष! बिना समझे बूझे मांस को खाया ?"

मोघ पुरुष! तूने मनुष्य के मांस को खाया।"

फटकार कर भगवान ने भिक्षुओं को संबोधित किया—"भिक्षुओं! मनुष्य मांस नहीं खाना चाहिए। जो खाए उसे थूलच्चय का दोष हो।

उस समय राजा के हाथी घोड़े मरते थे। दुर्भिक्ष के कारण लोग उनका मांस खाते थे। भिक्षा के लिये जाने पर भिक्षुओं को भी हाथी-घोड़े का मांस देते थे—भिक्षु खाते थे। लोग हैरान होते थे—"कैसे शाक्यपुत्रीय श्रमण हाथी घोड़े का मांस खाते हैं। हाथी घोड़े राजा के अंग हैं यदि राजा को जानकारी हो तो उनसे असन्तुष्ट होगा।"

भगवान से यह बात कही, भगवान ने कहा—भिक्षुओं हाथी-घोड़े का मांस नहीं खाना चाहिए।

उस समय दुर्भिक्ष के कारण लोग कुत्ते का मांस खाते हैं।

"भिक्षुओ! कुत्ते का मांस नहीं खाना चाहिए।"

उस समय दुर्भिक्ष के कारण लोग सांप का मांस खाते थे।

"भिक्षुओं! सांप का मांस नहीं खाना चाहिए।"

उस समय शिकारी सिंह, व्याघ्र, चीता, भालू और लकड़बग्घा को मारकर उनका मांस खाते थे। भिक्षुओं को भिक्षाचार करते वक्त उन्हें भी उन का मांस देते थे। भिक्षु उस मांस को खाकर जंगल में रहते थे। सिंह वगैरह मांस की गंध से भिक्षुओं को मारते थे। भगवान ने यह बात कही—

"भिक्षुओं! सिंह, व्याघ्र, चीता, भालू और लकड़बग्घे, का मांस नहीं खाना चाहिए।"

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि बुद्ध लोकसंग्रही थे—लोकसंग्रह की ओर उनकी दृष्टि विशेष थी। अतः लोग जिसे पसन्द करते थे

उसी की वे अनुज्ञा दे देते थे और लोक में जो निंद्य माना जाता उसका वह निषेध कर देते थे। कहा जाता है कि उस समय क्षत्रियों में मांस भक्षण का रिवाज था। बुद्ध स्वयं क्षत्रिय थे। अनेक क्षत्रियपुत्रों को उन्होंने अपने धर्म में दीक्षित किया था। उन्हें प्रव्रज्या दी थी, उनके घर पर भिक्षु संघ आहार को जाता था। अतः बुद्ध को अहिंसा प्रेमी होने पर भी अपने संघ के योगक्षेम के लिए मांस भोजन करने की अनुज्ञा देनी पड़ी किन्तु उसमें इतना प्रतिबन्ध लगा दिया कि वह मांस अदृष्ट, अश्रुत् और अपरिशंकित होना चाहिए। मंझिमनिकाय[1] के जीवकसुत्त में लिखा है—

एक बार भगवान बुद्ध राजगृह में विहार करते थे। तब जीवक कौमारभृत्य ने भगवान से कहा—"भन्ते! मैंने सुना है"—श्रमण गौतम जानते हुए (अपने) उद्देश्य से बनाये (अपने) उद्देश्य से किये कर्म वाले मांस को खाते हैं।" जो ऐसा करते हैं क्या वह भगवान के विषय में यथार्थवादी है? भगवान पर झूठा इलजाम तो नहीं लगाते?"

"जीवक! जो ऐसा कहते हैं, वह मेरे विषय में यथार्थवादी नहीं है। वह मुझ पर झूठा इल्जाम लगाते हैं। जीवक! मैं तीन प्रकार के मांस को अभोज्य कहता हूँ—दृष्ट, श्रुत और परिशंकित। जीवक! तीन प्रकार के मांस को मैं भोज्य कहता हूं-अदृष्ट, अश्रुत, अपरिशंकित।"

"जीवक! कोई भिक्षु किसी गांव या कसबे के पास बिहरता है। वह मैत्रीपूर्ण चित्त से सारे लोक को पूर्ण कर बिहरता है। उसके पास आकर कोई गृहपति पुत्र दूसरे दिन के भोजन के लिये निमंत्रण देता है। इच्छा होने पर जीवक! भिक्षु उसे स्वीकार करता है। उसे गृहपति उत्तम भिक्षान्न परोसता है। उस भिक्षु को यह नहीं होता—अहो! यह मुझे उत्तम पिण्डपात (भिक्षान्न) परोसे। यह आगे भी मुझे उत्तम पिण्डपात परोसे।

वह उस पिण्डपात को अलोलुप—अमूर्छित हो, अनासक्त हो अवगुण का ख्याल रखते निस्तार की बुद्धि से खाता है। तो क्या मानते हो, जीवक! क्या वह भिक्षु उस समय आत्मपीड़ा की बात

१. पृ० २२०-२१।

को सोचता है, परपीड़ा को सोचता है, उभय पीड़ा को सोचता है।

"नहीं भन्ते !"

"क्यों जीवक ! उस समय वह निर्दोष आहार का ही ग्रहण कर रहा है न ?"

"हां भन्ते"[१]

"जो कोई जीवक ! तथागत या तथागत के श्रावक के उद्देश्य से जीव मारता है वह पांच स्थानों से अपुण्य (पाप) कमाता है। १. जो वह यह कहता है—"जाओ अमुक जीव को लाओ।" २. जो वह गले में रस्सी बांधकर खींचकर लाते पशु को देख दुःख अनुभव करता है। ३. जो वह यह कहता है, 'जाओ, अमुक जीव को मारो। ४. जो वह जीव को मारते समय दुःख अनुभव करता है। ५-जो वह तथागत के श्रावक को अकल्पक (अनुचित अविहित) को खिलाता है। जो कोई जीवक ! तथागत या तथागत के उद्देश्य से जीव मारता है वह इन पांच स्थानों से अपुण्य कमाता है।"

अतः जो अपने उद्देश से मारा गया न देखा हो, न सुना हो और न वैसा सन्देह हो उसके मांस को भिक्षु ग्रहण करता है। ऐसा बुद्ध का मत था। किन्तु ऐसा ज्ञात होता है कि बुद्ध के इस तरह के मांस भक्षण को लेकर भी लोक में चर्चा होती थी।

सुत्त निपात में एक आमगंध सुत्त है। आमगंध का अर्थ होता है—अपवित्र। इस सुत्त में बतलाया है। कि एक तिष्य नाम का ब्राह्मण तापस बुद्ध के पास जाता है और उनसे कहता है—

हे ब्रह्मबन्धु ! तुम पक्षी के मांस से मिश्रित चावल का भात खाते हो और मुझसे कहते हो कि आमगंध (अपवित्र वस्तु) योग्य नहीं है। तो तुम्हारे मत से आमगन्ध किस प्रकार का होता है।"

इसका उत्तर बुद्ध इस प्रकार देते हैं—

"प्राणघात, वध छेदन, बंधन, चोरी, खोटा बोलना, लूट-खसोट करना व्यभिचार ये सब आमगन्ध हैं, मांस भोजन आमगन्ध नहीं है। जो स्त्रियों के विषय में संयमी नहीं है, जो जिह्वा लोलुप नास्तिक और दुर्विनीत है उसका कर्म आमगन्ध है, मांस भोजन आमगन्ध नहीं है।' 'जो' मित्रद्रोही, निर्दय अभिमानी, कृपण और किसी को

---

१. पृ० २२०-२१।

कुछ भी न देने वाला है उसका कर्म आमगन्ध है, माँस भोजन आमगन्ध नहीं है।"

"क्रोध, मद, कठोरता, विरोध, माया, ईर्षा, वृथा बड़बड़ाना, अतिमान दुर्जनों की संगति, ये सब आमगन्ध हैं, मांस भोजन आमगंध नही है।" 'जो' पापी हैं, अपने ऋण को नहीं चुकाता, चंट, घूंसखोर और खोटा अधिकारी है, जो जगत में पाप फैलाता है, उसका कर्म आमगन्ध है, मांस भोजन आमगन्ध नहीं है।"

"जिसे प्राणियों के प्रति दया नहीं, जो दूसरों को लूटकर उपद्रव करता है, जो दुःशील, गाली बकने वाला और अनादर करने वाला है उसका कर्म आमगन्ध है मांस भोजन आमगन्ध नहीं है।"

हिंसा किसे कहते हैं ?

अभिधर्मकोश' में 'विचारपूर्वक परके अभ्रांत रूप से मारने को प्राणातिपात (हिंसा)' कहा है। मारना दो प्रकार से होता है—विचार पूर्वक और अविचारपूर्वक। विचार पूर्वक मारना दो प्रकार का है— एक भ्रम से किसी के बदले किसी को मार देना, दूसरा बिना किसी भ्रम के जिसको मारने का विचार किया था उसी को मारना। अभ्रांत मारण भी दो प्रकार का है एक 'स्व' को मारना, दूसरा पर को मारना इसका खुलासा इस प्रकार है—

यदि 'मैं अमुक को मारूंगा' ऐसा विचार करके जिसको मारने का विचार किया था उसी को मारता है, उसके बदले में भ्रम से दूसरे को नहीं मारता तो वह प्राणातिपात (हिंसा) है। किन्तु यदि बिना विचारे भ्रम से किसी को मार दे तो प्राणातिपात नहीं है। जैसे देवदत्त' को मारने का संकल्प करके यदि कोई यज्ञदत्त को मार दे तो वह प्राणातिपात नहीं है। इसी तरह यदि कोई देवदत्त के घर चोरी करने का विचार करके भूल से यज्ञदत्त के घर चोरी कर ले तो वह चोरी नहीं है। अन्य स्त्री के परिभोग का विचार करके यदि अन्य का परि-

---

१. 'प्राणातिपातः संचिन्त्य परस्याभ्रान्तमारणम्।' ॥ ४-७३ ॥

२. 'प्राणातिपातवदिति। यथा देवदत्तं मारयामीत्यभिप्रायेण यज्ञदत्तं मारयतो न प्राणातिपातो भवति तद्वत्। इह अन्यस्मिन् वस्तुनि प्रयोगोभिप्रेतोन्यंच वस्तु परभुक्तमिति न स्यात् काममिथ्याचार इत्यपरे।'

—स्फुटार्था० पृ० ४०६।

भोग कर ले तो वह काम मिथ्याचार नहीं है। ऐसा बौद्ध धर्म का मंतव्य है। प्राण एक वायु है जो कायाचित्त से संमिश्रित रहता है। उसके विनाश का नाम प्राणातिपात है। अथवा जीवित इन्द्रिय का नाम प्राण है। और इन्द्रिय सहित काय को जीवितेन्द्रिय कहते हैं। उसके घात का नाम प्राणातिपात है। दूसरे किसी के घात को प्राणातिपात नहीं कहते, क्योंकि बौद्धधर्म में आत्मा नाम का कोई तत्त्व नहीं है।

असल में बौद्ध धर्म में चार प्रकार की चेतना के होने पर हिंसा मानी गई है। बधक और बधकचित्त, बध्य और बध्यचित्त। अर्थात् मारने वाला और उसका भाव तथा मरने वाला और उसका भाव। जहाँ ये चारों होते हैं वहीं हिंसा होती है। अतः जहाँ मारने का संकल्प नहीं है और भ्रम से दूसरे को मार दिया जाता है। वहाँ चारों बातों के न होने से हिंसा नहीं मानी जाती।

अहिंसा और दण्ड

मिलिन्द प्रश्न में महाराज मिलिन्द ने भिक्षु नागसेन से प्रश्न किया—'भन्ते नागसेन !' भगवान ने यह कहा है—'किसी की हिंसा न करते हुये प्यार से आपस में हिल-मिलकर रहो।' साथ ही यह भी कहा है—'जो दण्ड दिये जाने के योग्य हैं उन्हें दण्ड दो, जो साथ दिए जाने के योग्य हैं उनका साथ दो।'

भन्ते ! दण्ड देने का अर्थ है—'हाथ काट देना, पैर काट देना, मार डालना, जेल में डालना, मारना-पीटना या देश निकाला देना। भगवान को यह बात नहीं कहनी चाहिए और वे कह भी नहीं सकते। यदि भगवान ने कहा है कि किसी की हिंसा न करते हुये प्यार से आपस में हिल-मिलकर रहो। तो वे यह नहीं कह सकते कि जो दण्ड दिये जाने के योग्य हैं, उन्हें दण्ड दो। और यदि उन्होंने यह ठीक कहा है कि जो दण्ड दिये जाने के योग्य हैं, उन्हें दण्ड दो। तो यह कभी नहीं कहा होगा कि किसी की हिंसा न करते हुए आपस में हिल-मिल कर रहो।'

महाराज ! भगवान ने दोनों ही बातें ठीक कही हैं। सभी बुद्धों का यह उपदेश है। अहिंसा तो धर्म का प्रधान लक्षण है। बुद्ध के ये स्वाभाविक वचन हैं। और जो उन्होंने यह कहा है—'जो दण्ड दिये

जाने के योग्य हैं उन्हें दण्ड दो।' उसका मतलब कुछ दूसरा ही है। उसका मतलब यह है—उद्धत चित्त को दबाना चाहिए। शान्त हो गये चित्त को वैसा ही बनाये रखना चाहिये। बुरे विचारों को दबाना चाहिये, अच्छे विचारों को बनाये रखना चाहिये, बेठीक मन को दबाना चाहिये, ठीक मन को बनाये रखना चाहिए। झूठे सिद्धांतों को दबाना चाहिए, सच्चे धर्म को बनाए रखना चाहिए। बुरों को दबाना चाहिये, भलों को बनाये रखना रखना चाहिये। चोर को दबाना चाहिये, साधु को बनाये रखना चाहिये। भन्ते नागसेन ! अब आप मेरी बात से पकड़े गए। मैं जो पूछना चाहता था वह अर्थ निकल आया। चोर को दबाना चाहिये पर कैसे ?

महाराज ! चोर को इस तरह दबाना चाहिए—यदि उसे डांट डपट करना उचित हो तो डाँट डपट करना चाहिए, दण्ड देना उचित हो तो दण्ड देना चाहिये। देश से निकाल देना उचित हो तो देश से निकाल देना चाहिये, और यदि फाँसी देना उचित हो तो फाँसी दे देनी चाहिए।

भन्ते ! यह जो चोरों को फाँसी देने की बात है वह क्या बुद्ध धर्म के अनुकूल है ?

नहीं महाराज !

तो बुद्ध धर्म के अनुकूल चोरों को कैसे दबाना चाहिये।

महाराज ! जो चोरों को फांसी दी जाती है वह बुद्ध धर्म के आदेश करने से नहीं, बल्कि अपनी करनी से। महाराज क्या धर्म ऐसा आदेश करता है कि कोई बुद्धिमान किसी बेकसूर आदमी को बेवजह सड़क पर जाते हुए पकड़ कर जान से मार दे।

नहीं भन्ते !

क्यों नहीं।

क्योंकि उसने कोई कसूर ही नहीं किया है।

महाराज ! इसी तरह बुद्ध धर्म के आदेश करने से चोरों को फांसी नहीं दी जाती किन्तु उनकी अपनी करनी से। तो क्या बुद्ध को इससे कोई दोष लग सकता है।

नहीं भन्ते !

इस प्रश्नोत्तर से अहिंसा और दण्ड व्यवस्था के सम्बन्ध में बौद्ध धर्म का दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। अहिंसा दण्ड व्यवस्था की विरोधक नहीं है।

जैन धर्म और अहिंसा

जैन धर्म और अहिंसा तो परस्पर में इतने सम्बद्ध हैं कि उन्हें भिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकता। जैन धर्म का समस्त आचार-विचार अहिंसा मूलक ही है। उसके आद्य प्रवर्तक भगवान ऋषभदेव थे जिनके सम्बन्ध में प्रारम्भ में ही प्रकाश डाला गया है। अन्तिम तीन जैन-तीर्थंकर नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर थे।

जैन पुराणों के अनुसार नेमिनाथ श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। शौरीपुरके राजा अन्धकवृष्टिके दस पुत्र थे। उनमें सबसे बड़े समुद्रविजय थे और सबसे छोटे वासुदेव। समुद्रविजय के घर में नेमिनाथ का जन्म हुआ और वासुदेव के घर में श्रीकृष्ण का। जरासन्ध के भय से यादव-गण द्वारिका में जाकर बस गये थे। जूनागढ़ की राजकुमारी के साथ नेमिनाथ का विवाह तय हुआ। जब उनकी बारात जूनागढ़ को चली तो मार्ग में एक स्थान पर बाड़े में बन्द पशुओं को देखकर नेमिनाथ ने दयाद्रवित हो सारथि से पूछा—ये पशु यहाँ क्यों बन्द हैं? सारथि ने कहा—आपकी बारात में आये राजन्यवर्ग के लिए इनका भोजन बनेगा। यह सुनते ही नेमिनाथ विरक्त होकर गिरिनार पर्वत पर तपस्या करने चले गये। जब वह शुद्ध बुद्ध पूर्णज्ञानी हुए तो श्रीकृष्ण अपने भाई बलभद्र के साथ उनके समवशरण में गये थे और उनका उपदेश सुना था। अतः जैनपुराणों के अनुसार नेमिनाथ श्रीकृष्ण के गुरु थे।

उधर छान्दोग्य उपनिषद् में देवकी पुत्र श्रीकृष्ण का निर्देश है। उन्हें आंगिरस ऋषि ने आत्मयज्ञ की शिक्षा दी थी। उस यज्ञ की दक्षिणा तपश्चर्या, दान, ऋजुभाव, अहिंसा तथा सत्य वचन है। इस पर से स्व० श्री धर्मानन्द कौशाम्बी से लिखा है—'अब प्रश्न यह उठता है कि क्या यह नेमिनाथ तथा घोर आंगिरस एक ही व्यक्ति के नाम थे।

छान्दोग्य उपनिषद् में घोर आंगिरस का जो उपदेश है उससे और परम्परागत से चली आई हुई इस (जैन) कहानी से मिलान करके

देखा जाये तो यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कृष्ण के समय में भी उत्तर हिन्दुस्तान में अहिंसा का अर्थ लोग जानते थे।'

—(भा० सं० और अहिंसा पृ० ३८)

आगे उन्होंने लिखा है—नेमिनाथ या उनके समान और तपस्वी तप द्वारा अहिंसा का आचरण करते हों और भक्ति से जो उनके पास जाते हों उनको वे इन बातों का उपदेश देते हों, यह सम्भव है। मज्झिम निकाय के (बारहवें) महासिंहनाद सुत्त में बुद्ध के बोधिसत्वावस्था में चार प्रकार के तप का आचरण करने का वर्णन मिलता है। ......इन बातों से यह जाना जा सकता है कि अहिंसा तथा दया को लोग तपश्चरण का एक प्रकार मानते थे। इन तपों का आचरण करने वाले बुद्ध के पूर्व विद्यमान थे। इन लोगों में कृष्ण के गुरु घोर आंगिरस—जैनों के कहने के अनुसार नेमिनाथ—का होना संभव है।

भगवान पार्श्वनाथ

अभी तक इतिहासज्ञों ने नेमिनाथ को ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं माना है किन्तु जो लोग छान्दोग्य उपनिषद के आधार पर श्रीकृष्ण को अहिंसा धर्म का उपदेष्टा मानते हैं और यह कहते हैं कि जैनों ने वहीं से अहिंसा को लिया है, उनका यह कथन एकांगी है। अहिंसा धर्म के उद्गम, प्रचार और प्रसार का यदि किसी को श्रेय दिया जा सकता है तो केवल जैन-तीर्थंकरों को ही दिया जा सकता है। किन्तु इतिहासज्ञ अभी सब तीर्थंकरों को ऐतिहासिक व्यक्ति मानने के लिए तैयार नहीं हैं। उन्होंने पार्श्वनाथ और महावीर को ही ऐतिहासिक व्यक्ति माना है। श्री कोशाम्बी जी ने लिखा[1] है—

'ज्यादातर पाश्चात्य पंडितों का यह मत है कि जैनों के तेइसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ ऐतिहासिक व्यक्ति थे। चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान के जन्म के एक सो अठहत्तर साल पहले पार्श्व तीर्थंकर का निर्वाण हुआ। ......परीक्षित के बाद जनमेजय गद्दी पर आया और उसने कुरुदेश में महायज्ञ कर वैदिक धर्म का झण्डा फहराया। इसी समय काशी देश में पार्श्व एक नई संस्कृति की नींव डाल रहे थे। पार्श्व का जन्म वाराणसी नगर में अश्वसेन नामक राजा की वामा नामक रानी से

---

१. भा० सं० और अ०, पृ० ४०-४१।

हुआ। ऐसी कथा जैन ग्रन्थों में आई है। उस समय राजा ही अधिकारी जमींदार हुआ करता था। इसलिए ऐसे राजा को यह लड़का होना कोई असंभव बात नहीं है। 'पार्श्व की नई संस्कृति काशी राज्य में अच्छी तरह टिकी रही होगी। क्योंकि बुद्ध को भी अपने पहले शिष्यों को खोजने के लिये वाराणसी ही जाना पड़ा था।'

'पार्श्व का धर्म बिल्कुल सीधा-सादा था। हिंसा, असत्य, स्तेय तथा परिग्रह इन चार बातों के त्याग करने का वह उपदेश देते थे। इतने प्राचीन काल में अहिंसा को इतना सुसम्बद्ध रूप देने का यह पहला ही उदाहरण है।······पार्श्व के पहले पृथ्वी पर सच्ची अहिंसा से भरा हुआ धर्म या तत्वज्ञान था ही नहीं। पार्श्व मुनि ने एक और भी बात की। उन्होंने अहिंसा को सत्य, अस्तेय और अपरिग्रह इन तीन नियमों के साथ जकड़ दिया। इस कारण पहले से जो अहिंसा ऋषि-मुनियों के आचरण तक ही थी और जनता के व्यवहार में जिसका कोई स्थान नहीं था, वह अब इन नियमों के संबंध से सामाजिक एवं व्यावहारिक हो गई।'

'पार्श्व मुनि ने तीसरी बात यह की कि अपने नवीन धर्म के प्रचार के लिए उन्होंने संघ बनाए। बौद्ध साहित्य से इस बात का पता लगता है कि बुद्ध के समय जो संघ विद्यमान थे उन सबों में जैन साधु और साध्वियों का संघ सबसे बड़ा था। पार्श्व के पहले ब्राह्मणों के बड़े-बड़े समूह थे। पर वे सिर्फ यज्ञयाग का प्रचार करने के लिये ही थे। यज्ञयाग का तिरस्कार कर उसका त्याग करके जंगलों में तपस्या करने वालों के भी संघ थे। तपस्या का एक अंग समझ कर ही वे अहिंसा धर्म का पालन करते थे। पर समाज में उसका उपदेश नहीं देते थे।'

'बुद्ध के पहले यज्ञयाग को धर्म मानने वाले ब्राह्मण थे। और उसके बाद यज्ञयाग से ऊबकर जंगलों में जाने वाले तपस्वी थे। बुद्ध के समय ऐसे ब्राह्मण और तपस्वी न थे ऐसी बात नहीं है। पर इन दो प्रकार के दोषों को देखने वाले तीसरे प्रकार के भी संन्यासी थे और उन लोगों में पार्श्वमुनि के शिष्यों को पहला स्थान देना चाहिये।'

श्री कौशाम्बी जी का उक्त विवेचन ऐतिहासिक आधारों पर अवलम्बित है। खेद की बात है कि जैन धर्म के उद्गम के सम्बन्ध में जो कुछ अब तक ज्ञात हो सका है वह बहुत स्वल्प है। इस दिशा में

एतद्देशीय विद्वानों की ओर से कोई प्रयत्न नहीं किया गया। वह लोग तो विदेशी विद्वानों के आधार पर ही चलते हैं या फिर से यह मानकर चलते हैं कि सब ज्ञानों का मूल वेद है। और यह मानकर चलनेवालों से न्याय की आशा नहीं की जा सकती।

स्व० कोशाम्बी जी उक्त दायरे से निकल कर ही इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पार्श्वनाथ के चारों यामों से अहिंसा धर्म का उद्गम हुआ। और इस तरह अहिंसा धर्म के उद्गम का श्रेय जैन तीर्थंकरों को ही मिलता है। किन्तु उसकी अवधि ऐतिहासिक आधारों की अवधि को तरह ही सीमित है। यदि इतिहासों ने श्री ऋषभदेव के संबंध में खोज की और उसमें उन्हें सफलता मिली तो यह निश्चित है कि अहिंसा धर्म के उद्गम का श्रेय उन्हें ही मिलेगा और इस तरह उसकी अवधि अति विस्तृत हो सकेगी। क्योंकि जिस तरह मानव की हिंसा प्रधान वृत्तियां उतनी हो प्राचीन हैं जितना मानव, वैसे ही अहिंसक वृत्तियाँ भी उतनी ही प्राचीन हैं। विदेशी विद्वानों का यह मत है कि प्रारम्भ में मनुष्य जंगली, आदमखोर वगैरह था। पीछे से उसमें सभ्यता का विकास हुआ। किन्तु भारती धर्मों का दृष्टिकोण उक्त मत से सर्वथा विपरीत है। वे स्वभावतया मनुष्य को सात्विक प्राणी मानते हैं और मानते हैं कि एक समय 'मनुष्य समाज सुखी, समृद्ध और संयमी था। जब उसमें असन्तोष और संचय की भावना जागृत हुई तभी बुराई का उद्गम हुआ और मनुष्य में जिज्ञासा वृत्ति उत्पन्न हुई। जिसके निराकरण के लिये 'मा हिंस्यात् सर्वभूतानि' जैसी उदार भावना का उद्घोष किया गया, जिसमें किसी भी तरह का भेद न करके प्राणिमात्र की हिंसा न करने का आदेश है। बाद को निकृष्ट स्वार्थमूलक वृत्तियों से प्रेरित होकर मनुष्यों ने उसमें अपवादों की सृष्टि कर डाली और धीरे-धीरे अपवाद मार्ग को उत्सर्ग और उत्सर्ग-मार्ग को अपवाद तक बना डाला, जैसा कि वैदिक युग में हुआ जिसकी विस्तृत चर्चा वैदिक धर्म के प्रकरण में की जा चुकी है।

बौद्ध ग्रन्थ सुत्तनिपात में 'ब्राह्मण धम्मिक' नाम का एक सुत्त है। उसमें वर्णित घटना से भी उक्त बात का समर्थन होता है। उसमें लिखा है—'एक बार भगवान बुद्ध श्रावस्ती नगरी के जेतवन में निवास करते थे। उस समय कोसल देश के कुछ वृद्ध कुलीन ब्राह्मण

बुद्ध के पास आये, और कुशल समाचार पूछकर एक ओर बैठ गये। एक ओर बैठकर उन्होंने भगवान से पूछा—हे गोतम! क्या आजकल के ब्राह्मण प्राचीन ब्राह्मण धर्म का पालन करते हैं? भगवान ने कहा नहीं। तब ब्राह्मणों ने भगवान से प्राचीन ब्राह्मण धर्म बतलाने की प्रार्थना की। भगवान बोले—'प्राचीन ऋषि सयमी और तपस्वी हुआ करते थे। वे पांचों इन्द्रियों के विषयों का त्याग कर आत्मार्थ चितन किया करते थे। उन ब्राह्मणों के पास पशु और धन धान्य नहीं होता था, स्वाध्याय ही उनका धन था। और वे ब्रह्म निधि के रक्षक थे। लोक उनके लिए श्रद्धापूर्वक भोजन तैयार करके रखते और उसे उन्हें देना उचित समझते थे। वे ब्राह्मण अवश्य थे। और धर्म से रक्षित होने के कारण अजय थे। किसी भी कुटम्ब में जाने को उन्हें रोक नहीं थी। वे परस्त्रीगामी नहीं थे और न स्त्रियों को बेचते थे। ऋतुकाल के सिवाय अन्य समय स्त्रीसंगम नहीं करते थे। वे ब्रह्मचर्य, शील, आर्जव, मार्दव, तप, अहिंसा और क्षमा को स्तुनि किया करते थे।

"वे ब्राह्मण चावल, आसन, वस्त्र, घी, तेल वगैरह पदार्थों की भिक्षा माँग कर या धार्मिक रीति से इकट्ठा करके यज्ञ करते थे। उस यज्ञ में वे गोबध नहीं करते थे। जैसे मां बाप भाई और कुटुम्बी हैं वैसे ही गाय भी हमारो परम मित्र है, क्योंकि खेती उन्हीं पर अवलम्बित है। वे हमें अन्न देती हैं, शांति और सुख देती है। ऐसा जानकर वे ब्राह्मण गाय को नहीं मारते थे।"

"परन्तु राज्य की संपत्ति और अलंकृत स्त्रियां जैसी अत्यन्त क्षुद्र वस्तु से उनकी बुद्धि बदल गई। उत्तम घोड़ों से युक्त रथ, सुन्दर महल, सुन्दर स्त्रियां और गायों का समूह, इन मानवी उपभोगों का उन्हें लोभ हुआ। उनके लिए उन्होंने मंत्र रचे और वे इक्ष्वाकु राजा के पास जाकर बोले—तेरे पास खूब धन धान्य है तू यज्ञ कर।"

"इस प्रकार ब्राह्मणों के समझाने पर उस रथर्षभ राजाने अश्वमेध, पुरुषमेध, सम्यक्पाश, वाजपेय आदि यज्ञ किये और ब्राह्मणों को प्रभूत दक्षिणा दी" ब्राह्मण सम्पत्तिशाली हो गये। उनकी तृष्णा और भी बढ़ी। वे पुनः मंत्र रचकर, इक्ष्वाकु के पास गये और बोले—"जैसे पानी, जमीन, सोना और धनधान्य है वैसे गाय भी मनुष्यों के उपभोग्य हैं। तेरे पास खूब धन है तू यज्ञ कर।"

"इस प्रकार ब्राह्मणों के समझाने पर उस राजा ने यज्ञ में लाखों गाय मारी। वे गायें पैर, सींग या दूसरे किसी अवयव से हिंसा नहीं करती थी। बकरी के बच्चे की तरह ही शान्त थीं और घड़ों दूध देती थीं। उन गायों का राजा ने यज्ञ में वध किया। तब देव, पितर, इन्द्र, असुर और राक्षसों ने यह कह कर हाहाकार किया कि गाय पर अस्त्र छोड़ना बड़ा अधर्म है। पहले इच्छा, भूख और जरा ये तीन ही रोग थे। किन्तु पशुघात के शुरू होने के बाद उनकी संख्या अट्ठानवे हो गई।"

"इस प्रकार धर्म का विपर्यास होने के कारण शूद्र और वैश्य जुदे पड़ गये, क्षत्रियों में भेद पड़ गया और पत्नी पति की अवहेलना करने लगी। उच्चकुल के क्षत्रिय ब्राह्मण और दूसरे लोग जाति-प्रवाद का भय छोड़कर चैन करने लगे।"

इस सुत्त से ऐसा पता चलता है कि पहले ब्राह्मण पशुयाग नहीं करते थे और सादा अग्निहोत्र किया करते थे। पीछे से उनमें यह बुराई पैदा हुई। अस्तु—

जैन तीर्थंकरों का उपदेश

"जैसे यदि मुझे कोई डंडे से, हड्डी से, मुक्के से रोड़ासे या ठीकरा वगैरह से मारता है, चाबुक आदि से पीटता है, अंगुली दिखाकर धमकाता है, ताड़न करता है, सताता है, क्लेश देता है, अथवा किसी प्रकार का उपद्रव करता है, तो मुझको दुःख होता है। अधिक क्या, मेरा एक रोम भी यदि कोई उखाड़ लेता है तो मुझको दुःख और भय उत्पन्न होता है। इसी तरह सभी जीव, सभी भूत, सभी प्राणी और सभी सत्व डंडे तथा ठीकरा वगैरह से मारे जाने पर, चाबुक आदि से पीटे जाने पर, अंगुली दिखाकर धमकाए जाने पर, ताड़न किये जाने पर, सताये जाने पर, क्लेश दिये जाने पर और उपद्रव किये जाने पर, अधिक क्या एक रोम उखाड़ने का कष्ट किये जाने पर दुःख और भय को प्राप्त होते हैं। यह जानकर किसी भी प्राणी को हिंसा न करनी चाहिये; उन्हें बलात्कार से दासी दास आदि न बनाना चाहिए, उन्हें सताना नहीं चाहिए, उन्हें उद्विग्न नहीं करना चाहिए। अतः मैं कहता हूं कि जो तीर्थंकर पहले हो चुके हैं, और जो इस समय वर्तमान हैं

तथा जो भविष्यकाल में होंगे वे सभी ऐसा ही उपदेश करते हैं, ऐसा भाषण करते हैं, ऐसा ही आदेश करते हैं, ऐसा ही प्ररूपण करते हैं। वे कहते हैं कि किसी प्राणी को मत मारो, बलात्कार से उन्हें आज्ञा न दो, बलात्कार से उन्हें दासी दास आदि न बनाओ, उन्हें कष्ट न दो, उन पर कोई उपद्रव न करो। यही धर्म अटल है, यही नित्य है, यही सदा स्थिर रहने वाला है। समस्त लोक को केवलज्ञान से जानकर तीर्थंकरों ने यह धर्म कहा[1] है।"

और भी—

"यह भगवती अहिंसा भयभीतों के लिए शरण है, पक्षियों के लिये मुक्त आकाश है, प्यासों के लिये पानी है, भूखों के लिए भोजन है, समुद्र में गिरे हुओं के लिये जहाज है, चौपायों के लिये गौशाला है, रोगियों के लिये महौषधी है, अटवी में भटके हुओं के लिए सुन्दर मार्ग हैं। तथा पृथ्वी जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, हरित बीज, जलचर-थलचर, आकाशचर, त्रस, स्थावर आदि सभी प्राणियों का कल्याण करने-वाली होने से सबसे विशिष्ट है।"

अब से लगभग २५०० वर्ष पूर्व अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर के अन्यतम साक्षात् शिष्य भगवान सुधर्माचार्य ने जैन तीर्थंकरों के विषय में यथार्थ ही कहा है। जैन तीर्थंकर राग-द्वेषों की उस दुस्तर घाटी को पार कर लेते हैं जिसमें पड़कर अच्छे-अच्छे ज्ञानी पुरुष भी राग-द्वेष के वशीभूत होकर प्राणिमात्र के साथ न्याय नहीं कर पाते। वे स्वयं निर्मित महामानव होते हैं, अपने ही अनुभवों के आधार पर सत्य का दर्शन करके प्राणिमात्र के हित की कामना से उनकी ही भाषा में उसका प्रकाशन करते हैं। पशु-पक्षी तक उनके उपदेश से लाभ उठाते हैं, उनकी सभा में उनके लिये भी स्थान सुरक्षित होता है। वे आत्मौपम्य की भावना से प्रेरित होकर प्राणीमात्र के लिये एक ही उपदेश देते हैं—किसी की हिंसा मत करो' यही सत्य दर्शन का, सत्य तक पहुंचने का एक अचूक उपाय है। इसी में सबका योग क्षेम सन्निहित है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शुद्र, मनुष्य, पशु, पक्षी, सबके लिये यही उपदेश है, यही एक आदेश है। किसी सम्प्रदाय विशेष, वर्ग

---

१. सूत्रकृ० २-१-१५।

विशेष, वर्ण विशेष, जाति विशेष या देश विशेष के अनुयायियों के लिये उसमें किसी रियायत को, छूट को स्थान नहीं है।

प्राणिमात्र के कल्याण में निरत उन समदर्शी तीर्थंकरों की दृष्टि में सब समान हैं। जो उनकी निन्दा करते हैं या उन्हें नहीं मानते और जो उनकी प्रशंसा करते हैं या उन्हें मानते हैं, दोनों ही उनके लिये समान हैं। अतः वे यह नहीं कहते कि जो मेरी बात को न माने उसे मार डालो या सताओ वे यह भी नही कहते कि मनुष्य ही एक सर्वश्रेष्ठ प्राणी है। बाकी की सृष्टि उसी के लिए बनाई गयी है अतः मनुष्य का सब पर अधिकार है। वे यह भी नहीं कहते कि पशु मनुष्य के खाने के लिए या यज्ञ के लिए पैदा किए गये हैं। उनका तो यह कहना है कि सब जीवधारी जीना चाहते हैं जैसे हमें सताये जाने पर कष्ट होता है वैसे ही सब शरीरधारियों को होता है। हम नहीं चाहते कोई हमें सताये या दुःख पहुंचाये। इसी तरह अन्य शरीरधारी भी यही चाहते हैं। इसलिए किसी को नहीं मारना चाहिए या सताना चाहिए। जीने का अधिकार सबको है अतः सबको सबके इस अधिकार की रक्षा करनी चाहिए। तब हम भी सुरक्षित रह सकते हैं।

जो व्यक्ति, जाति, वर्ग या देश केवल स्वयं जीवित रहने की भावना रखता है और दूसरों को जीवित नहीं रहने देना चाहता वह स्वयं भी जीवित नही रह सकता। अहिंसा की भावना का उद्गम इस आत्मरक्षा की भावना से ही हुआ है। जब किसी से कहा जाता है कि दूसरों को मत सताओ, किसी का दिल मत दुखाओ तो सुनने वाला इससे कुछ अहंभाव अनुभव करने लगता है। वह अपने को दूसरों से बड़ा समझ लेता है और स्वयं को दयालु तथा दूसरों को दयापात्र मान लेता है। किन्तु यह अहंभाव भी जैन तीर्थंकरों की दृष्टि में हिंसा का ही एक रूप है। जैन धर्म का हिंसा और अहिंसा का विवेचन इतना परिष्कृत, परिमार्जित और सुलझा हुआ है कि उसकी दृष्टि से अहिंसा संबंधी बहुत सी समस्याएँ स्वयं सुलझ जाती हैं। और उसका विस्तृत तथा व्यवहार्य रूप आँखों के सामने आ जाता है।

हिंसा और अहिंसा

'हिंसा' शब्द हननार्थक 'हिंसि' धातु से बना है। इसलिये हिंसा का अर्थ होता है किसी को हनना यानी मारना। मारने के

भी दो रूप होते हैं—एक तो जान ही ले डालना, दूसरा मारपीट करना, सताना या दुःख पहुंचाना। ये दोनों ही रूप हिंसा कहे जाते हैं। इसलिए प्राणियों के प्राण ले लेने के लिये अथवा प्राणी को दुःख देने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है उसका नाम हिंसा है। और किसी को कष्ट न पहुंचाना अहिंसा है। हिंसा और अहिंसा की यह स्थूल परिभाषा है जिसे सब मानते हैं।

किन्तु जैन धर्म के अनुसार किसी के द्वारा किसी प्राणी के मर जाने या दुखी हो जाने से ही हिंसा नहीं होती। संसार में सर्वत्र जीव पाये जाते हैं और वे अपने निमित्त से मरते भी रहते हैं। फिर भी जैन-धर्म इस जीवघात को हिंसा नहीं कहता। उसके मत से तो 'हिंसा रूप परिणाम' ही हिंसा है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

प्रमादी[1] मनुष्य जो प्राणों का घात करता है वह हिंसा है। यह जैन धर्म में हिंसा का लक्षण किया गया है। इसका मतलब यह है कि केवल प्राणों के घात हो जाने मात्र से ही हिंसा नहीं होती जब तक प्राणों का घात करने वाला अपने कार्य के प्रति प्रमादी न हो। जो अपने कर्तव्य के प्रति असावधान है, अत्याचारी और असंयमी है, स्वच्छन्दता पूर्वक अपने मन वचन और काय का प्रयोग करता है वह प्रमादी मनुष्य ही हिंसक है और उसका कार्य हिंसा है। अथवा जो क्रोध, मान, माया और लोभ के वशीभूत हो वह हिंसक है और उसका कार्य हिंसा है। हिंसा की इस परिभाषा पर गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है।

विचारणीय बात यह है कि 'अमुक कार्य अच्छा है या बुरा है' इसका निर्णय करने की कसोटी क्या है? कार्य का अच्छा या बुरा होना उसके परिणाम दिखावटी रूप पर निर्भर है या कर्ता के भावों पर निर्भर है? उदाहरण के लिए, एक मनुष्य किसी डूबते हुये बालक को बचाने के लिये जाता है। किन्तु घटना ऐसी घटती है कि वह मनुष्य ही उस बालक के डूब जाने में निमित्त हो जाता है। उस मनुष्य के, जिसके चित्त में बालक को बचाने की भावना के सिवा दूसरा कोई भाव नहीं है, कार्य को अच्छा कहा जाएगा या बुरा? या एक डाक्टर रोगी को नीरोग करने की शुद्ध भावना से उसके फोड़े में

१. 'प्रमत्तयोगात् प्राण व्यपरोणं हिंसा।' तत्त्वार्थ०, ७-६।

चीरा लगाता है। रोगी कष्ट से छटपटाता है किन्तु डाक्टर, उसकी वेदना की परवाह न करके अपने कार्य में संलग्न रहता है। उस डाक्टर के इस कार्य को अच्छा कहा जायेगा या बुरा।

जहां तक हमारा अनुमान है कि प्रत्येक समझदार व्यक्ति उस आदमी को तथा डाक्टर को अच्छा ही कहेंगे, क्योंकि उनकी भावना अच्छी है। इसके विरुद्ध एक व्यक्ति अपने दुश्मन के लड़के को पानी में डूबता देखकर मन ही मन प्रसन्न है किन्तु ऊपर से हो हल्ला मचाता है और यह दिखाने का प्रयत्न करता है कि वह उस लड़के को बचाने के लिए उत्सुक है। उसका यह स्वांग देखने में सद्भावनापूर्ण होने पर भी दुर्भावनापूर्ण होने से उचित नहीं है। इसी तरह एक डाक्टर अपने किसी धनी रोगी को प्रत्यक्ष में कोई दु:ख नहीं देता, उसका खूब ध्यान रखता है मगर प्रयत्न यह करता है कि रोगी सदा रोगी ही बना रहे जिससे उसकी आय का एक स्थायी साधन बना रहे तो उस डाक्टर का ऐसा करना भी अनुचित ही कहलायेगा।

अत: कार्य का अच्छा या बुरा होना कार्य के दिखावटी बाह्य-रूप पर निर्भर नहीं है किन्तु कर्ता के मनोभावों पर निर्भर है। जो कार्य देखने में अच्छा लगता है, किन्तु यदि करने वाले का उद्देश्य अच्छा नहीं है तो उसका कार्य अच्छा नहीं कहा जा सकता। परन्तु कदाचित बुरा करने जाकर यदि उससे कोई अच्छा कार्य बन जाये तो भी उस कार्य का श्रेय उस पुरुष को नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उसके पीछे उसकी कोई शुभ भावना नहीं थी। जैसे पंचतंत्र में एक स्त्री की कथा आती है जो अपने अन्धे पति को मारना चाहती थी। उसने उसके मारने के लिए मरे हुए सांप के टुकड़े पकाये किन्तु जिस बरतन में सांप पकाया गया था उसकी वाष्प अन्धे के मुंह पर लगते ही उसकी आंखें खुल गईं और उसे दिखाई देने लगा।

इसके विपरीत जो कार्य देखने में बुरा लगता है उसके पीछे यदि उसके कर्ता की शुभ भावना है तो वह कार्य अच्छा ही कहा जाएगा। अत: किसी कार्य का अच्छा या बुरा होना उसके बाह्य-रूप पर निर्भर नहीं है, किन्तु कर्ता के मनोभावों पर निर्भर है। इसीलिए कहा है—

'वियोजयति चासुभिर्न वधेन संयुज्यते।'

अर्थात् प्राणों का वियोग कर देने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता। इसका खुलासा करते हुए जैन शास्त्रकारों ने लिखा है—

उच्चालिदम्मि पादे इरिया समिदस्स णिग्गमट्ठाणे।
वावाधेज्ज कुलिंगो मरेज्ज तं जोगमासेज्ज॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमो वि देसिदो समये।
अणवज्जो उं पओगेणं सव्वभावेण सो जम्हा॥ ओ० नि०।

अर्थात्—जो मनुष्य देख भाल कर चल रहा है उसके पैर उठाने पर यदि कोई जीव पैर के नीचे आ जाए और कुचल कर मर जाए तो उस मनुष्य को उस जीव के मारने का थोड़ा-सा भी पाप नहीं लगता। क्योंकि उस समय वह मनुष्य पूरी तरह से निर्दोष है।

हिंसा का पाप तो तभी लगता है जब वह अत्याचार से काम नहीं लेता। जैसा कि कहा है—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्य णत्थि बंधो हिंसा मित्तेण समिदस्स॥-प्रक० ३-१७।

अर्थात्—जीव चाहे जिये या मरे, जो अयत्नाचार से—असावधानी से काम करेगा उसे हिंसा का पाप अवश्य लगेगा। किन्तु जो यत्नाचार से सावधानता पूर्वक अपना काम कर रहा है उसे प्राणिवध हो जाने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता।

इन उक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि क्यों अपने द्वारा किसी प्राणी के मर जाने या दुखी हो जाने पर भी हिंसा नहीं होती, और अपने द्वारा किसी का घात न होने पर भी हिंसा हो जाती है ?

जो मनुष्य सदा यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करता है—इस बात का ध्यान रखकर अपना कार्य करता है कि उसके कार्य से जहां तक हो सके किसी को भी कष्ट न पहुंचे, उस मनुष्य से यदि किसी को कदाचित् कष्ट पहुंच भी जाये तो भी वह हिंसक नहीं है। इसके विरुद्ध जो मनुष्य यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति नहीं करता, प्रवृत्ति करते हुए इस बात का बिल्कुल ध्यान नहीं रखता कि उसके कार्य से किसी को कष्ट न पहुंचे, ऐसा मनुष्य—किसी को कष्ट न पहुंचने पर भी हिंसक ही है। उदाहरण के लिए—एक मोटर ड्राइवर किसी शहर की सड़क पर कानून के नियमों का ध्यान रखते हुए सावधानी से मोटर ले जाता है,

फिर भी कोई बालक अपनी या अपने अभिभावकों की असावधानी से मोटर के सामने आ जाता है और मोटर चालक के प्रयत्न करने पर भी कुचल जाता है। कानून या जनमत उस मोटर चालक को दोषी नहीं पाता, क्योंकि वह अपने कार्य में बराबर सावधान था। इसके विपरीत एक दूसरा चालक उसी नगर की सड़क पर बेतहाशा तेजी से मोटर दौड़ाता है और इस बात का बिल्कुल ध्यान नहीं रखता कि कोई दुर्घटना न हो। किसी तरह की दुर्घटना नहीं होने पर भी वह मोटर चालक कानून से अपराधी पाया जाता है क्योंकि वह अपने कार्य में असावधान था। अतः जो प्रमादी है वही हिंसक है। जो प्रमादी नहीं है वह हिंसक नहीं है। इसीलिए जैनधर्म में हिंसा के दो भेद किये हैं—एक द्रव्य हिंसा और दूसरी भाव हिंसा। कहीं पर द्रव्य से ही हिंसा होती है भाव से हिंसा नहीं होती। जैसे, ऊपर के दृष्टान्त में जो मनुष्य देख देखकर मार्ग चलता है उसके पैर उठाने पर यदि कोई उसके पैर के नीचे आकर कुचल जाता है तो वह द्रव्य से हिंसा है, क्योंकि चलने वाला मनुष्य बहुत सावधान है और उसका आशय एक-शुद्ध है—उसका किसी को भी कष्ट पहुंचाने का भाव नहीं है। अतः वह हिंसक नहीं है, क्योंकि केवल द्रव्य हिंसा हिंसा नहीं है।

इसके विरुद्ध कहीं पर भाव से हिंसा होती है, द्रव्य से नहीं होती। जैसे, कोई शिकारी शिकार के लिए जंगल में जाता है, वहां उसकी दृष्टि एक हिरण पर पड़ती है। वह तुरन्त बन्दूक तानकर उस पर निशाना लगाता है किन्तु उसका निशाना चूक जाता है, और हिरण बच जाता है। यहां यद्यपि हिरण के प्राण बच गए इसलिए द्रव्य हिंसा नही हुई फिर भी शिकारी का मन तो अशुद्ध था वह तो हिंसा करने के लिए ही तत्पर था। अतः मृग मारा जाये अथवा न मारा जाए उसे मारने का प्रयत्न करने वाला हिंसक ही है। इसी से जैन धर्म में भाव-हिंसा को ही हिंसा कहा है। द्रव्य हिंसा को तो केवल इसलिए हिंसा कहते हैं कि उसका भाव हिंसा के साथ संबंध है। फिर भी यह बात याद रखनी चाहिए कि द्रव्यहिंसा के होने पर भाव हिंसा का होना अनिवार्य नहीं है।

सारांश यह है कि द्रव्य और भाव को लेकर हिंसा के तीन भेद होते हैं :—

१. द्रव्य और भाव दोनों से हिंसा—जैसे ऊपर के दृष्टान्त में शिकारी की बन्दूक के निशाने से हिरण मर जाता है तो वहाँ हिरण के मर जाने और शिकारी का उसको मारने का विचार करने से द्रव्य और भाव दोनों से हिंसा कहलायेगी।

२. केवल भाव से हिंसा—जैसे ऊपर के दृष्टान्त में शिकारी के बन्दूक छोड़ने पर भी हिरन नहीं मरा। अथवा जैसे कुछ पुरुषों ने अन्धकार में एक गुड़ीमुड़ी रस्सी को पड़ा देखकर उसे साँप समझा और उसे मारने के लिए अपनी तलवारें खींच कर रस्सी के टुकड़े-टुकड़े कर डाले यह भाव से हिंसा है, द्रव्य से नहीं है।

३. केवल द्रव्य से हिंसा—जैसे देख देखकर मार्ग चलते हुये मनुष्य के पैर के नीचे किसी जन्तु के मर जाने पर द्रव्य से ही हिंसा होती है भाव से नहीं।

इन तीन विकल्पों में से पहले और दूसरे विकल्प में ही प्रमाद का लगाव है अतः वही हिंसा है और उसका करने वाला हिंसक है। तीसरे विकल्प में प्रमाद का लगाव नहीं है, अतः वह हिंसा नहीं कही जा सकती।

बौद्ध और जैन भावना में अन्तर

हिंसा को लेकर बौद्ध और जैन भावना में अन्तर है। बौद्ध प्रथम विकल्प में तो हिंसा मानते हैं क्योंकि उसका मत है कि जहाँ मारे जाने वाला प्राणी हो, मारने वाले को यह प्राणी है, ऐसा ज्ञान हो, मैं इसे मारता हूं ऐसी उसकी भावना हो तथा वह प्राणी मार दिया गया हो वहीं हिंसा कही जाती है। प्रथम विकल्प में चारों बातें हैं अतः वहां हिंसा मानना उसके मत से भी उचित है। किन्तु दूसरे विकल्प में चारों बातें नहीं हैं अतः वह वहाँ हिंसा नहीं मानता। बौद्ध कहता है—दो प्रकार से प्राणी को मारा जाता है—एक विचारपूर्वक, दूसरे बिना विचारे। विचारपूर्वक मारने के भी दो प्रकार हैं - एक भ्रम से मारना, दूसरा बिना किसी प्रकार के भ्रम के मारना। मारने के लक्ष्य भी दो होते हैं—एक अपने को मारना, दूसरा पर को मारना। अतः—विचार कर दूसरे को अभ्रान्त रूप से मारना ही हिंसा है। इसका अभिप्राय यह है—यदि 'मैं अमुक प्राणी को मारूंगा' ऐसा संकल्प करके दूसरे को मारता है और जिसको मारने का संकल्प किया

है उसी को मारता है, भ्रम से दूसरे के बदले में दूसरे को नहीं मारता तभी हिंसा है। अतः बौद्धमत के अनुसार बिना विचारे जो वध किया जाता है, या भ्रम से जो वध किया जाता है—किसी को मारने का संकल्प करके भ्रम से किसी दूसरे को मार दिया जाता है अथवा स्वयं अपना जो वध किया जाता है वह हिंसा नहीं है। किन्तु जैन लोग बिना विचारे अबुद्धि पूर्वक किये गए प्राणिघात को भी हिंसा कहते हैं। उनके मत से अबुद्धिपूर्वक किये गये प्राणिवध से भी कर्ता को पाप लगता है, जैसे बिना समझे भी यदि कोई अग्नि को छू ले तो उसका हाथ अवश्य जलेगा। बौद्धों को जैनों की इस मान्यता पर आपत्ति है उनका कहना है कि यदि अबुद्धिपूर्वक किये गए प्राणि वध से भी कर्ता को अधर्म होता है तो जैसे परस्त्री का दर्शन और स्पर्शन करने से कामी को पापी समझा जाता है वैसे ही अबुद्धिपूर्वक भी यदि कोई साधु परस्त्री का दर्शन कर लेता है या उसका आलिंगन कर लेता है तो वह भी पापी माना जायेगा। जैसे कोई व्यक्ति क्रोध में आकर किसी को कष्ट देता है तो वह पापी है वैसे ही जैनों के तीर्थंकर अपने साधुओं को केशलोच करने का तथा कष्टदायक तपस्या करने का उपदेश देते हैं अतः वे भी पापी कहे जायेंगे। किसी साधु का विसूचिका रोग से मरण हो जाने पर वह मनुष्य हिंसक कहा जायेगा जिसका अन्न खाकर साधु को विसूचिका रोग हुआ। माता और गर्भस्थ बच्चा दोनों पापी ठहरेंगे, क्योंकि दोनों परस्पर में एक-दूसरे के दुःख में निमित्त हैं। मकान के गिरने से किसी प्राणी का घात हो जाने पर अचेतन ईंट पत्थरों को भी पाप लगेगा। जैसे अग्नि को स्वयं न छूकर यदि किसी प्राणी को स्पर्श कराया जाए तो अपना हाथ नहीं जलता वैसे ही किसी दूसरे के द्वारा किसी का घात कराने पर कराने वाले को पाप नहीं लगेगा। अतः जैन मान्यता उचित नहीं है ऐसा बौद्धों का अभिप्राय है। जो विचारणीय है।

इस पर विचार करने से पहले यह स्मरण रखना आवश्यक है कि बौद्ध धर्म आत्मतत्त्व को नहीं मानता। साथ ही साथ प्रत्येक वस्तु को स्वभाव से ही विनाशी मानता है। अर्थात् घड़े में लकड़ी मारने से घड़ा नहीं फूटा बल्कि अपने स्वभाव से ही नष्ट हो गया है ऐसा उसका मन्तव्य है। अतः प्राण का मतलब है - इन्द्रिय सहित शरीर या काय-से मिश्रित वायु। और उसके घात से मतलब है—उस शरीर की आगे

के क्षण में होने वाली सन्तान को रोक देना। अर्थात् काय-चित की जो एक सन्तान चल रही थी वह खतम कर दी गई वही हिंसा है किन्तु इसके विरुद्ध जैनधर्म आत्मतत्त्व को मानता है, उसे अखण्ड अविनाशी तत्त्व स्वीकार करता है। और उसमें होने वाली प्रत्येक विकृति को मोहजन्य मानता है। मोहनीय कर्म ही आत्मा की दुरवस्था का कारण है। उसी के भाई-बन्धु राग और द्वेष हैं, वही जीवात्मा के अज्ञानी होने में कारण है। वही उसे अपने कर्तव्य के प्रति प्रमादी बनाता है— उसी के कारण काम क्रोधादि कषायों की सृष्टि होती है। सारांश यह कि मोह ही सब बुराइयों की जड़ हैं। शरीर से मोह होने के कारण ही मनुष्य उसकी पुष्टि और सुख के लिए दूसरों को सताता है या दूसरों को सताने के भाव करता है अथवा इस बात की तरफ बिल्कुल ध्यान नहीं देता कि उनके व्यवहार से दूसरों को कष्ट पहुंच सकता है। किसी को कष्ट पहुंचाना, किसी को कष्ट पहुंचाने का विचार करना या इस बात को बिल्कुल असावधान होकर प्रवृत्ति करना, ये सब मनुष्य की जघन्य स्वार्थमूलक वासना के ही परिणाम हैं। स्वार्थी और आरामतलब मनुष्य सदा अपने ही सुख और आराम की चिन्ता किया करता है और वह उसमें इतना डूब जाता है कि उसे इस बात का बिल्कुल ध्यान ही नहीं रहता कि इस जगत में दूसरे भी प्राणी रहते हैं और उनको भी अपना जीवन उतना ही प्यारा है जितना मुझे। ऐसा मनुष्य ही स्वार्थ में बाधा उपस्थित होने पर दूसरों को जानबूझकर कष्ट पहुंचाता है। अत. हिंसा की जड़ मनुष्य की इस असावधानता में ही समाई हुई है। ऐसे स्वार्थी और अयत्नाचारी मनुष्य से भले ही किसी दूसरे को कष्ट न पहुंचे किन्तु वह ऐसा करके स्वयं अपनी ही हानि करता है अतः वह आत्मघाती है।

स्थूलदृष्टि विचारकों ने हिंसा पर विचार करते समय केवल उसके बाह्य रूप पर ही विशेष दृष्टि रखी है। प्रायः सभी ने किसी प्राणी के प्राणों को घात करने का नाम हिंसा कहा है। किन्तु किसी प्राणी के प्राणों को घात करने की भावना का उदय होना भी हिंसा है यह किसी ने नहीं सोचा। इस भावना का उदय होने के बाद मनुष्य जो किसी का घात कर बैठता है वह तो उस भावना का परिणाम है। अतः वास्तविक हिंसा तो मनुष्य की हिंसक भावना है और जिसमें यह हिंसक भावना है वह किसी की हिंसा करे या न करे किन्तु वह हिंसक

है। क्योंकि जो हिंसक भावना को जन्म देता है वह सबसे पहले तो इस प्रकार के दुर्विचारों को अपने में स्थान देकर अपना ही घात करता है अपना ही बुरा करता है। जो अपने हाथ में जलता अंगार लेकर दूसरे के घर में आग लगाने का प्रयत्न करता है सबसे प्रथम वह अंगार उसी का हाथ जलाता है। इसीलिए जैन शास्त्रकारों ने कहा है—

स्वमेवात्मनात्मानं हिनस्त्यात्मा प्रमादवान्।
पूर्वं प्राण्यन्तराणां तु पश्चाद् स्याद्वा न वा वधः॥
सर्वार्थ०—७-१३।

अर्थात्—प्रमादी मनुष्य पहले तो स्वयं अपनी ही आत्मा का घात करता है। अन्य प्राणियों का घात तो बाद की चीज है वह हो, न भी हो। इस तरह जब बौद्ध धर्म केवल पर के घात को ही हिंसा कहता है और वह भी उस अवस्था में जब मारने वाले ने मरने से पहले उसके मारने का संकल्प किया है तथा संकल्प करने पर भी जिस प्राणी के मारने का संकल्प किया हो उसी को मारा हो। यदि बिना संकल्प किये किसी को मार दिया हो या किसी के मारने का संकल्प करके किसी दूसरे को मार दिया हो अथवा जिसको मारने का संकल्प किया था उसको मारने का पूरा प्रयत्न करने पर भी वह प्राणी बच गया हो तो वह हिंसा नहीं कहलाएगी। इसके विपरीत जैन धर्म कहता है कि मनुष्य का अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करना ही हिंसा है। उसका यह कर्तव्य है कि सावधानता पूर्वक अपना प्रत्येक काम करे और इस बात का पूर्ण ध्यान रक्खे कि उसके किसी कार्य में किसी को किसी प्रकार की हानि या कष्ट न पहुंचे। अपनी इस पवित्र भावना और जागरूक प्रवृत्ति के होते हुए भी यदि किसी को कष्ट पहुंच जाता है, कोई मर जाता है तो भी वह मनुष्य हिंसक नहीं है और इसके विपरीत दूसरों के भले-बुरे का कतई ध्यान न रखकर अपना ही स्वार्थ-साधन करने की भावना से प्रवृत्ति करते हुए भले ही किसी को कष्ट न पहुंचे तो भी वह अयत्नाचारी मनुष्य हिंसक है। इस तरह जैन धर्म हिंसा के परिणाम पर लक्ष्य न रखकर मनुष्य की हिंसक वृत्ति पर लक्ष्य रखता है और उसे अपने कर्तव्य के प्रति सदा जागरूक रखकर जगत के समस्त प्राणियों के प्रति अहिंसक वृत्ति से वरतने की भावना को प्रोत्साहन देता है और इस तरह हिंसक भावना को मिटाकर हिंसा

की जड़ पर कुठाराघात करता है। यदि बिना विचारे या भ्रम से किये गए प्राणिवध को हिंसा नहीं माना जाएगा अथवा किसी को मारने का संकल्प करके और संकल्प के अनुसार प्रयत्न करके भी यदि वह बच जाता है, इसलिए उसे हिंसा नहीं माना जाएगा तो बड़ी अव्यवस्था उत्पन्न होगी। उदाहरण के लिए, कुछ बमवर्षक विमान लन्दन पर बमवर्षा करने के विचार से जाते हैं, किन्तु लक्ष्यभ्रष्ट होकर लन्दन के बजाय किसी दूसरे शत्रु देश पर बमवर्षा करके धन-जन की अपार क्षति कर देते हैं तो क्या इसे हिंसा नहीं कहा जाएगा? या बमवर्षा के इरादे से जाकर भी शत्रुदेश की जागरुकता के कारण यदि वे बमवर्षा न कर सके तो क्या उन्हें युद्धक तथा हिंसक नहीं कहा जाएगा? एक चोर चोरी के लिए जाता है किन्तु घर के लोगों के जाग जाने से चोरी नहीं कर पाता तो क्या वह चोर नहीं कहा जायेगा। अथवा चोर जिसके घर में चोरी करने के विचार से गया था उसके घर में चोरी न करके भ्रम से दूसरे के घर में चोरी कर लेता है तो क्या वह चोरी नहीं कही जायेगी? अत: चाहे जान-बूझकर किसी की हिंसा की गई हो या अनजान में अपनी असावधानी से किसी की हिंसा हो गई हो, दोनों ही हिंसा है। क्योंकि बौद्ध धर्म के ग्रन्थों में लिखा है कि यदि कोई बालक धूल को हो अन्न समझ कर बुद्ध को भिक्षा देने के लिए उद्यत हो तो उसे उसका फल राज्यप्राप्ति के रूप में मिलता है। अत: जिस प्रकार मिथ्या संकल्प होने पर भी उससे पुण्यबंध होता है क्योंकि संकल्प करने वाले की भावना प्रशस्त है वैसे ही बिना विचारे किये गये वध से या भ्रम से किये गये वध से भी हिंसा का दोष अवश्यंभावी है क्योंकि कर्ता की भावना और प्रवृत्ति अच्छी नहीं है। अत हिंसा और अहिंसा कर्ता की भावना पर निर्भर है इसी के प्रकाश में बौद्धों के द्वारा उठाई गई आपत्तियों का पर्दाफाश हो जाता है।

जैसे क्रोधी मनुष्य क्रोध में आकर यदि किसी को कष्ट देता है तो वह पापी है वैसे ही जैन तीर्थंकर यदि क्रोध में आकर अपने साधुओं को तपश्चरण करने का या केशलोच करने का उपदेश दें तो वे भी हिंसक कहलायें। किन्तु उसके अन्तरंग में क्रोध का लेश भी नहीं होता। यदि हो तो वह तीर्थंकर नहीं है। जैसे चिकित्सक रोगी की चिकित्सा

करता है। रोगी को सुख पहुंचाना या दु.ख पहुंचाना उसका उद्देश्य नहीं है उसका उद्देश्य तो रोगा को नीरोग करना है, नीरोग करने के लिए वह उसकी चिकित्सा करता है। चिकित्सा करते हुए रोगी को दुःख भी पहुच सकता है और सुख भी हो सकता है इसी तरह मुक्ति का साधन न सुख ही है और न दुःख ही है। किन्तु उसमें लगने के बाद दुःख हो या सुख हो इसकी परवाह नहीं की जाती। अतः कष्ट-दायक प्रतीत होने वाले उपदेशों के मूल में कोई दुर्भावना या अज्ञान न होने से उन उपदेशों का उपदेष्टा क्रोधी मनुष्य की तरह पापी नहीं कहा जा सकता।

इसी तरह यदि दाता अच्छे भावों से सात्विक भोजन भिक्षु को देता है तो भिक्षु को रोग हो जाने पर भी दाता को उसका दोष नहीं दिया जा सकता। हां यदि दाता ने असावधानी से भिक्षु को अपथ्य-कर भोजन कराया हो तो वह अवश्य दोषी है।

अपने निमित्त दूसरे को दु.ख पहुंचाने से अवश्य पाप होता है यह कोई ऐकान्तिक नियम नहीं है किसी वीतरागी साधु को देखकर यदि उसके किसी विरोधी मनुष्य को दु ख होता हो, या मरणान्मुख पुत्र को देखकर यदि उसके सगे सम्बन्धी दुखी होते हों तो उसकी वजह से उस साधु को अथवा उस मरणोन्मुख पुत्र को पाप का लेश भी नहीं लगता। इसी तरह अपने निमित्त से किसी को सुख पहुंचाने से ही अपने को पुण्य लगता है ऐसा भी एकान्त नियम नहीं है। यदि कर्ता का अभिप्राय दूसरे को दुःख पहुंचाने का है तो दूसरे को दुःख पहुंचे या न पहुंचे कर्ता अपराधी है। इसी तरह यदि कर्ता का अभि-प्राय दूसरे को सुख पहुंचाने का है तो दूसरे को सुख पहुंचे या न पहुंचे कर्ता अपनी शुभ भावना से शुभफल का भागी है। ईंट पत्थर अचेतन हैं उनमें न किसी को दुःख पहुंचाने की भावना है और न सुख पहुंचाने की। अतः यदि मकान गिरने से किसी प्राणी की मृत्यु हो जाये तो अचेतन होने से मकान को पाप का भागी नहीं कहा जा सकता। हां, यदि किसी ने किसी के मकान में आग लगा दी हो और आग में जल-कर मकान के गिरने से कोई मर गया हो तो उसका दोषी आग लगाने वाला है।

यह तो हुआ दूसरों का घात करने की भावना का विश्लेषण। इसी तरह यदि कोई अपना घात करता है तो वह भी हिंसक है, क्योंकि

उसने अपना घात किया है। घात करना अपराध है चाहे वह पराया घात हो या अपना। घातक भावना दोनों अवस्थाओं में हैं, अन्तर केवल इतना है कि एक जगह उसका लक्ष्य दूसरा व्यक्ति है और दूसरी जगह वह स्वयं है, हम नहीं समझते कि बौद्ध धर्म में आत्मघात को हिंसा क्यों नहीं माना गया जबकि वहां वे चारों बातें वर्तमान हैं जिनके होने पर ही बौद्ध धर्म में हिंसा मानी जाती है।

अतः हिंसा को लेकर जैन और बौद्ध भावना में महान अन्तर है। जो एक उदाहरण से स्पष्ट किया जाता है—

बौद्ध का कहना है कि कोई पुरुष मनुष्य को अथवा बालक को खली का पिन्ड समझकर उसे शूल में वेधकर आग में पकावे तो उसे प्राणी के वध का पाप नहीं लगता और वह पवित्र आहार हो सकता है, क्योंकि जो कार्य भूल से हो जाता है या जो मन के संकल्प के बिना किया जाता है वह पाप का कारण नहीं है। जैनों का कहना है कि कोई पुरुष खली के पिण्ड को भी यदि 'यह पुरुष है' ऐसा मानकर, शूल में वेधकर पकाता है, अथवा तुम्बे को बालक मानकर पकाता है तो वह प्राणी के वध करने के पाप का भागी है।

अहिंसा अव्यवहार्य नहीं है

इस तरह जैन धर्म हिंसा के दो भेद करके द्रव्यहिंसा और भाव-हिंसा को अलग कर देता है और भावहिंसा को ही हिंसा मानता है। किन्तु जगत में द्रव्यहिंसा को ही हिंसा कहा जाता है, इसी से 'जीव जीव का खाद्य है' इस सिद्धान्त को स्वीकार करके अनेक समझदार मनुष्यों तक ने अहिंसा को अव्यवहार्य तथा हिंसा को अपरिहार्य मान लिया है उनका कहना है—

'जले जन्तुः स्थलेजन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः॥'

'जल में जंतु हैं, और आकाश में भी जन्तु हैं। इस तरह जब समस्त लोक जन्तुओं से भरा हुआ है तब कोई साधु अहिंसक कैसे हो सकता है।' इस आपत्ति का परिहार जैनशास्त्रों में इस प्रकार किया गया है—

'सूक्ष्मा न प्रतिपीड्यन्ते प्राणिनः स्थूलमूर्तयः।
ये शक्यास्ते विवर्ज्यन्ते का हिंसा संयतात्मनः॥'

'जीव दो प्रकार के होते हैं—सूक्ष्म और बादर। जो दिखाई नहीं देते तथा जो न किसी को रोकते हैं और न किसी से रुकते हैं उन्हें सूक्ष्म कहते हैं। ऐसे सूक्ष्म जीवों को तो कोई पीड़ा दी ही नहीं जा सकती। रह गए स्थूल-मूर्ति बादरजीव। उनमें से जिनकी रक्षा की जा सकती है उनकी रक्षा की जाती है। अत: संयमी मनुष्य को हिंसा का पाप कैसे लग सकता है।' इसी बात को और भी स्पष्ट करते हुए कहा है—

'विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बन्धमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्॥'

'यदि बन्ध और मोक्ष भावों के ऊपर ही निर्भर न होते तो जीवों से भरे हुए इस जगत में कोन मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर सकता?

अत: जो मनुष्य प्राणियों की हिंसा करने के भाव रहीं रखता, बल्कि उनको बचाने के भाव रखता है वह हिंसक नहीं है और इसलिए उसके द्वारा सावधानी रखते हुए भी जो द्रव्यहिंसा हो जाती है वस्तुत: वह हिंसा नहीं है।

हिंसा और अहिंसा की इस परिभाषा के प्रकाश में उक्त प्रकार की अनेक आशंकाएँ और भ्रान्तियां दूर हो जाती हैं। जिनके कारण ही अहिंसा को व्यवहार के अयोग्य मान लिया गया है।

अहिंसा के भेद

अहिंसा को व्यावहारिक रूप देने के लिये जैन तीर्थंकरों ने अहिंसा के दो भेद किये हैं—एक सर्वदेश अहिंसा, जिसे अहिंसा महाव्रत कहा है और दूसरा एकदेश अहिंसा, जिसे अहिंसा अणुव्रत कहा है।

अहिंसा महाव्रत

प्रमाद के योग से कभी भी किसी प्राणी के प्राणों का घात न करने को अहिंसा महाव्रत कहते हैं। इस अहिंसा महाव्रत का पालन साधु करते हैं जो कामिनी और कंचन के चक्कर में नहीं हैं। ससार भर की स्त्रियां उनके लिये, माता, बहिन, या बेटी के समान हैं। सारा विश्व उनका कुटुम्ब है, महल और झोपड़ा, नगर और जंगल, धूलि और कंचन उनके लिये समान है। अतएव वे सच्चे समदर्शी होते हैं। जब वे चलते हैं तो सावधानतापूर्वक दृष्टि नीची करके चलते

हैं, जिससे पृथ्वी पर चलने-फिरने वाले किसी क्षुद्र जन्तु तक को उनसे कोई बाधा न पहुंच सके। मन में भी कभी भी, किसी के प्रति कोई दुर्विचार नहीं आते। जो लोग उन्हें सताते मारते या पीड़ा पहुंचाते हैं उनके प्रति भी उनका क्षमाभाव रहता है। क्रोध का बड़े से बड़ा प्रसंग उपस्थित होने पर भी वे कभी क्रोधित नहीं होते। वे या तो एकाकी रहते हैं अथवा इसी प्रकार के साधुओं के संघ में साथ रहते हैं। उनके पास संपत्ति के नाम पर केवल एक कमण्डल और पीछी होती है और अपना कहने के लिये केवल एक शरीर। किन्तु उससे भी उन्हें मोह नहीं होता। न उन्हें जीवन को चिन्ता सताती है और न मृत्यु का भय। वे दिन में एक बार आहार की खोज में निकलते हैं और यदि उन्हें आदरपूर्वक शुद्ध भोजन मिल जाता है तो ग्रहण कर लेते हैं, अन्यथा लौट आते हैं। यदि भोजन विरस होता है तो सरस भोजन की इच्छा नहीं करते और यदि सरस होता है तो उसमें लिप्सा नहीं रखते। जब बोलते हैं तो हित और मित वचन ही बोलते हैं। इस तरह अपने मन, वचन और कर्म पर उनका पूर्ण नियन्त्रण होता है एक पूर्ण अहिंसक के लिये जिसका होना आवश्यक है, क्योंकि अपने मन, वचन और कर्म पर नियन्त्रण किये बिना कोई अहिंसक नहीं बन सकता।

जैन शास्त्रों में ऐसे अहिंसक साधुओं के जीवन-वृत्तान्त भरे हुए हैं जिन्होंने घोर विपत्ति के प्रसार में भी व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से अहिंसा का पालन किया। संक्षेप में—

साधु को जीवन निर्वाह के लिये पांच आवश्यक कार्य करने पड़ते हैं—चलना, बोलना, आहार करना, अपने पींछी कमण्डलु आदि को रखना, उठाना तथा मलमूत्र त्यागना। उसके लिए पांच समितियां कही हैं, ईर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आहार निक्षेपण समिति और उत्सर्ग समिति।

पातंजल योगदर्शन में महाव्रत

पातंजल योगदर्शन के साधनपाद में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को यम कहा है और जाति, देश, काल और समय के अवच्छेद से रहित होने पर ये सार्वभौम महाव्रत होते हैं। यथा—

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥३०॥
जाति देशकाल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥३१॥

इस प्रकार का कथन हमें वैदिक् वांगमय में कहीं भी दृष्टि-गोचर नहीं हुआ। अहिंसा, सत्य और ब्रह्मचर्य शब्द तो उपनिषदों में मिलते हैं किन्तु इन पांचों का एक साथ महाव्रत रूप से कथन जैन वाङ्मय में ही मिलता है। यथा—

हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्व्रतम् ॥
देशसर्वतोऽणुमहती ॥ —तत्वार्थ सूत्र ७।१-२।

अर्थात्—हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्म और परिग्रह से विरति को व्रत कहते हैं। उसके दो भद हैं एक देश से विरति अणुव्रत है और सर्वदेश विरति महाव्रत है। व्यास भाष्य में उक्त सूत्रों का विवेचन करते हुये कहा है—सब प्रकार से सबकाल में सब प्राणियों का द्रोह न करना अहिंसा है। आगे के जो यम नियम आदि हैं उनका मूल अहिंसा है, क्योंकि अहिंसा की सिद्धि के लिये ही उनका कथन किया गया है। उस अहिंसा को निर्मल करने के लिये ही वे ग्रहण किये गए हैं। कहा भी गया है—वह यह ब्राह्मण जैसे-जैसे बहुत व्रतों को करता है वैसे-वैसे प्रमाद से किये गए हिंसा के कारण मिथ्याभाषण आदि से निवृत्त होता हुआ उसी शुद्ध रूप अहिंसा को करता है।

वाणी और मन का यथार्थपना सत्य है। जैसा देखा हो, जैसा अनुमान किया हो, जैसा सुना हो वैसा ही यदि मन और वाणी भी हो तो वह सत्य है। जो वाणी अन्य पुरुष के चित में, जैसा अपने चित्त में बोध है वैसा ही बोध उत्पन्न करने के लिये कही गई है, वह यदि अन्य को वंचना करने वाली न हो, भ्रान्त न हो, निरर्थक न हो तो सत्य है। इस प्रकार की वाणी भी सब प्राणियों के उपकार के लिये होनी चाहिये, प्राणियों के उपघात के लिए नहीं होनी चाहिये। और यदि इस प्रकार से कहा गया भी वचन प्राणियों के उपघातपरक हो तो वह सत्य नहीं होता, पाप ही होता है। उस पुण्य के समान प्रतीयमान पुण्य सदृश वाक्य से वक्ता दुःखस्वरूप तम-नरक को प्राप्त होगा। अतः परीक्षा करके सब प्राणियों का हित कारक सत्यवचन बोलना चाहिए।

शास्त्रोक्त विधिरहित परद्रव्य को ग्रहण करना चोरी है। उसका निषेध अस्पृहारूप अर्थात् मन से भी अन्य के द्रव्य के ग्रहण करने की इच्छा का अभावरूप अस्तेयव्रत है।

गुह्य इन्द्रिय जो उपस्थ है उसका संयम ब्रह्मचर्य है। विषयों में अर्जनदोष, रक्षणदोष, क्षयदोष, संगदोष, हिंसादोष देखने से उनको स्वीकार न करना अपरिग्रह है। यह पाँच यम हैं।

यह व्यासभाष्य का कथन जैन शास्त्रों के ही अनुरूप है। आगे पातंजल-योगसूत्र है—'वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्' ।।३३।। इसके व्यास भाष्य में कहा है—

'जब इस ब्राह्मण के चित्त में हिंसा आदि वितर्क उत्पन्न हों कि मैं इस अघकारी का घात करूंगा, इसके संबंध में झूंठ भी कहूंगा, इसका द्रव्य भी अपहरण करूंगा, इसकी स्त्रियों के साथ मैथुन भी करूंगा, इसके परिग्रह का स्वामी बनूंगा। इस प्रकार के अतिदीन कुमार्ग की ओर ले जानेवाले वितर्क रूप ज्वर से पीड़ित होने पर उनकी प्रतिपक्ष भावना को भाना चाहिए। इस घोर संसाररूप अंगारों में निरन्तर जलते हुए मैंने सब प्राणियों को अभय देने के लिए अहिंसा आदि पांच योगरूप धर्म की शरण ली है! वही मैं उसको त्यागकर उन योग-निरोधी वितर्कों को ग्रहण करता हुआ कुत्ते के समान आचरण करने वाला होऊँगा। जैसे कुत्ता वमन करके उसे चाटता है वैसे ही त्याग किये हुए को ग्रहण करने वाला पुरुष भी होता है। आगे सूत्र है—

'वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखज्ञानानन्त फला इति प्रतिपक्षभावनम् ।।३४।

इस सूत्र के व्यासभाष्य में कहा है—

'उन पांच यमों में से हिंसा कृत, कारित अनुमोदित के भेद से तीन प्रकार की है। इन तीन प्रकार की हिंसाओं में से प्रत्येक पुनः तीन-तीन प्रकार की है। लोभ से, क्रोध से और मोह से। मांस तथा चर्म के लोभ से हिंसा करना, इसने मेरा अपकार किया इस क्रोध से हिंसा करना। बलि देने से धर्म होगा ऐसा मानकर हिंसा करना मोहजन्य है। इस प्रकार कृत हिंसा लोभ क्रोध मोहन्य, कारित हिंसा लोभ क्रोध मोहजन्य। अनुमोदित हिंसा लोभ क्रोध मोहजन्य। इस तरह नौ

प्रकार की हिंसा हुई। इनमें से भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद हैं—मृदु-मध्य, अभिमात्र। इस प्रकार हिंसा के २७ भेद हैं। इनके भी तीन-तीन भेद हैं—मृदुमृदु, मध्यमृदु, तीव्रमृदु। मृदुमध्य, मध्यमध्य, तीव्रमध्य, मृदुतीव्र, मध्यतीव्र, अधिमात्र तीव्र। इस प्रकार हिंसा के ८१ भेद होते हैं। पुनः वह हिंसा नियम विकल्प और समुच्चय के भेद से असंख्यात रूप हैं, क्योंकि प्राणियों के भेद अपरिसंख्येय हैं।

इसी प्रकार असत्य आदि में भी इन भेदों की योजना करना चाहिये। ये सब वितर्क दुःख और अज्ञान रूप अनन्तफलों को देने वाले हैं। यह प्रतिपक्ष भावना है। उसका रूप इस प्रकार है—हिंसक पुरुष सबसे प्रथम वध्य प्राणी को खूंटे आदि में बांधकर उसकी शक्ति को नाश करता है। उसके पश्चात् उसका जीवन हर लेता है। प्राणी की शक्ति का नाश करने से मारने वाले के स्त्री-पुत्रादि तथा गृह क्षेत्रादि चेतन अचेतन सुख सामग्री शक्तिहीन हो जाती है। प्राणी को दुःख देने से मारने वाला नरकतिर्यच प्रेत आदि योनियों में दुःख भोगता है। प्राणी के जीवन का घात करने से प्रतिक्षण असाध्य रोग से पीड़ित होता हुआ मरने की इच्छा करते हुए भी मरता नहीं है क्योंकि उसको दुःख भोगना है। यदि कभी पुण्य कर्म के अनुष्ठान से हिंसाजन्य पाप थोड़ा निवृत्त हो जाता है तो स्वर्गादि में जाकर भी अल्पायु होता है। इसी प्रकार असत्य आदि में भी यथायोग्य लगा लेना चाहिए। इस तरह हिंसादि वितर्कों के अनिष्ट फल की भावना करता हुआ पुरुष वितर्कों में अपने मन को न लगावे।

जैन परम्परा में हिंसा आदि के एक सौ आठ प्रकार बताये हैं—

मूल हैं—संरम्भ, समारम्भ, आरम्भ। प्रमादी जीव का प्राणों की हिसा आदि कार्यों में प्रयत्नशील होना संरम्भ है। उसके साधनों को जुटाना समारम्भ है। और कार्य करना आरम्भ है। इनमें से प्रत्येक के छत्तीस-छत्तीस प्रकार हैं। मन, वचन और काय। कृत, कारित, अनुमोदना, क्रोध, मान, माया और लोभ। इनको मिलाने से छत्तीस भेद होते हैं—क्रोध, कृत कायसंरम्भ, मानकृत कायसंरम्भ, मायाकृत कायसंरम्भ, लोभकृत कायसंरम्भ। क्रोध कारित काय संरम्भ, मानकारित कायसंरम्भ, मायाकारित कायसंरम्भ, लोभका-रित कायसंरम्भ। क्रोधानुमत कायसंरम्भ, मानानुमत कायसंरम्भ,

मायानुमत काय संरम्भ, लोभानुमत काय संरम्भ। यह बारह प्रकार काय संरम्भ के हैं और बारह-बारह ही प्रकार वचन योग और मनोयोग संरम्भ के हैं इस तरह ३६ प्रकार संरंभ के, ३६ प्रकार समारंभ के और ३६ प्रकार आरंभ के होने से १०८ प्रकार होते हैं। (तत्त्वार्थसू० ६।८ टीका)।

योगदर्शन में केवल महाव्रत का ही कथन है। जो योगी पालन करता है। किन्तु जैन धर्म में गृहस्थ के लिए भी एकदेश अणुव्रत के रूप में उसका प्रतिपादन बहुत विस्तार से मिलता है। उसी का कथन आगे किया जाता है।

उपलब्ध योगसूत्र के रचयिता पातंजलि माने जाते हैं। व्याकरण महाभाष्य के कर्ता पतंजलि ही योगसूत्रकार हैं या दूसरे कोई पतंजलि हैं इसका कोई निश्चय नहीं। यदि दोनों एक हैं तो योगसूत्र को विक्रम पूर्व पहले दूसरी शताब्दी का कहा जा सकता है। योगसूत्र का व्यासभाष्य कब का है यह भी निश्चित नहीं। फिर भी उसे विक्रम की तीसरी शताब्दी से प्राचीन मानने का कोई कारण नहीं।

ये दोनों ही श्रमणों की अहिंसक संस्कृति से प्रभावित हैं यह स्पष्ट है। पांच महाव्रतों की परम्परा जैन तीर्थंकरों की देन है। वैदिक संस्कृति के साथ उसका कोई मेल नहीं है।

अहिंसा-अणुव्रत

अहिंसा अणुव्रत या एकदेश अहिंसाव्रत का पालन गृहस्थ करते हैं। गृहस्थों के ऊपर अनेक उत्तरदायित्व होते हैं। उन्हें गृहस्थाश्रम को चलाने के लिए कोई आजीविका करनी पड़ती है। अनेक आरम्भ करने पड़ते हैं। अपनी तथा अपने आत्मीय जनों की रक्षा करनी पड़ती है जिन पर देश की रक्षा का भार है उन्हें देश की रक्षा करनी पड़ती है। जिन पर दण्ड विधान का उत्तरदायित्व है उन्हें अपराधियों को दण्ड भी देना पड़ता है। अतः गृहस्थ सार्वदेशिक अहिंसा का पालन नहीं कर सकता, किन्तु एकदेश अहिंसा का पालन करता है। वह मन, वचन और काय तथा कृत, कारित और अनुमोदन के नौ विकल्पों से इरादा पूर्वक किसी भी चलते-फिरते प्राणी का घात नहीं

करता। बस यही उसका अहिंसाणुव्रत है। इसका खुलासा इस प्रकार है—

हिंसा चार प्रकार की बतलाई है—संकल्पी, आरम्भी, उद्योगी और विरोधी। बिना अपराध के जान बूझकर जब किसी प्राणी को सताया जाता है या उसके प्राण लिए जाते हैं तो उसे संकल्पी हिंसा कहते हैं। झाड़ने बुहारने में, रोटी बनाने में, आने जाने आदि में सावधानी रखते हुए भी जो हिंसा हो जाती है वह आरम्भी हिंसा कही जाती है। कृषि, व्यापार आदि में जो हिंसा हो जाती है उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं। और अपने तथा आत्मीय जनों की रक्षा के लिए जो हिंसा करनी पड़ती है वह विरोधी हिंसा है।

इस प्रकार की हिंसा में से गृहस्थ केवल संकल्पी हिंसा का त्याग करता है अर्थात् वह इरादापूर्वक किसी भी त्रस जीव को नहीं मारता। वह इरादा या संकल्प नौ प्रकार से होता है—१. स्वयं त्रस हिंसा करने का मन से संकल्प करना। २. दूसरे के द्वारा किसी त्रस जीव को मारने का मन से संकल्प करना। ३. यदि कोई त्रस हिंसा करे तो उसकी सराहना करने का मन से संकल्प करना। ४. इसी तरह स्वयं त्रस[1] जीव को मारने के संकल्प को वचन से प्रकट करना। ५. दूसरे को 'त्रस हिंसा करो' इस तरह वचन से प्रेरणा करना। ६. किसी को त्रस हिंसा करते हुए देखकर ऐसा कहना कि तुम ठीक करते हो। ७. काय से किसी त्रस जीव की हिंसा करना। ८. किसी को हाथ वगैरह के संकेत से त्रस हिंसा करने की प्रेरणा करना और ९. किसी को त्रस हिंसा करते देखकर हाथ आदि के संकेत से उसकी सराहना करना। इन नौ विकल्पों से संकल्पी हिंसा का त्याग गृहस्थ करता है। इसका यह मतलब हुआ कि किसी त्रस जीव को स्वयं मारने, दूसरों के द्वारा मरवाने अथवा किसी मारने वाले के कृत्य की सराहना करने का संकल्प वह मन से नहीं करता है, न वचन से ही वैसा करता है और न अपने शरीर के द्वारा ही उस प्रकार का कार्य या संकेत वगैरह करता है।

ऐसा करने से गृहस्थ बहुत सी अनावश्यक हिंसाओं से बच

---

१. लट, चींटी, मक्खी, पशु-पक्षी, मनुष्य वगैरह चलने फिर सकने वाले प्राणियों को 'त्रस' कहते हैं।

जाता है। धर्म के नाम[२] पर, औषधि के लिए, आहार के लिए और मनोविनोद के लिए जान बूझकर जो किसी प्राणी का हनन किया जाता है वह सब इसी संकल्पी हिंसा में गर्भित है। अतः कोई भी अहिंसक गृहस्थ उक्त कार्यों के लिए किसी भी जीव का वध नहीं कर सकता और जो वध करता है वह कभी धर्मात्मा नहीं हो सकता।

धर्म के नाम पर हिंसा

देवता वगैरह के उद्देश से अथवा स्वर्गादि की प्राप्ति के उद्देश से किसी समय हिंसा करने का बहुत जोर रहा है। वैदिक युग में यज्ञों में की जाने वाली हिंसा का विवरण वैदिक धर्म और अहिंसा, शीर्षक अध्याय में विस्तार से किया गया है। वैदिक ऋषियों ने तो यह घोषणा कर दी थी कि ब्रह्मा ने यज्ञ के लिए ही पशुओं की सृष्टि की है अतः यज्ञ में किया जाने वाला पशुवध वध ही नहीं है। जिस गौ को आज की हिन्दू जनता इतना पूजती है, वैदिक युग में उससे भी यज्ञ किया जाता था, अतिथि के सत्कार के लिए उसका वध किया जाता था और उसका मांस तक खाया जाता था। ईसाइयों में भी बलिदान की प्रथा थी। एक समय मैक्सिको में नर बलिदान होता था। इज्जतदार मनुष्यों के बालकों को पकड़कर देवता के सामने उनका बलिदान कर दिया जाता था। कुछ समय तक तो उन बालकों का आदर देवता की तरह किया जाता था। पीछे उन्हें मारकर सब कोई उनका मांस खा जाते थे। यज्ञ या बलिदान में पशुवध या नर-वध मुख्य अनुष्ठान नहीं माना जाता था, किन्तु उसका मांस भक्षण करना ही मुख्य अनुष्ठान माना जाता था। और उससे मांस भक्षण की देवता के साथ एकरूपता होने की बात कही जाती थी। बलिदान की प्रथा से मांस भक्षण को प्रोत्साहन मिला या मांस-भक्षण की प्रथा के कारण बलिदान की प्रथा प्रचलित हुई ये प्रश्न विचारणीय हैं। फिर भी प्रतीत तो ऐसा होता है कि मांस भक्षण की प्रथा ने ही बलिदान की प्रथा को जन्म दिया। कुछ का ऐसा मत है कि बलिदान की प्रथा मांस-भक्षण को मर्यादित करने की दृष्टि से ही चालू की गई

---

२. देवतातिथिपित्रर्थं मंत्रौषधभयाय वा।
न हिंस्यात् प्राणिनः सर्वान्नहिंसा नाम तद्व्रतम् ।। यशस्तिलक ।।

थी। किन्तु इससे उत्तरकाल में मांस भक्षण सीमित होने के बदले और बढ़ा ही है। यदि जैनधर्म और बौद्धधर्म ने धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा का कठोर विरोध न किया होता तो पता नहीं इस प्रथा का कितना दुष्परिणाम होता। उक्त विरोध के फल स्वरूप याज्ञिक बलिदान तो बन्द हो गये। किन्तु देवी देवताओं के सामने पशु बलिदान की प्रथा इतने वीभत्स रूप में प्रचलित है कि सुनकर ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं।

हम भारतवासी यह दावा करते हैं कि संसार के सबसे बड़े धर्मों की जन्मभूमि भारतवर्ष है और विदेशी लोग म्लेच्छ और मांस-भक्षी हैं। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि पशुओं के प्रति जितना निर्दय व्यवहार भारतवर्ष में किया जाता है वैसा विदेशों में नहीं किया जाता। और वह भी धर्म के नाम पर। धर्म के नाम पर की जाने वाली निर्दयता के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं—

१. टिन्नेवेली जिले के कुछ स्थानों में पृथ्वी पर तेज नोक वाले भाले या बड़े कीले सीधे गाड़कर उनके ऊपर खूब ऊंचाई से कई सुअर एक-एक करके इस प्रकार फेंके जाते हैं कि वे उससे बिंधकर भाले के नीचे पहुंच जाते हैं। पीछे से उन जीवित ही बिंधे हुए सुअरों का बलिदान किया जाता है।

२. चिंगलेपट जिले के मादमवक्क नामक स्थान में जीवित भेड़-बकरी के पेट को काटकर उसकी आँतें खींच ली जाती हैं और उन्हें सेल्लीयम्मन देवी के सामने गले में हार की तरह पहिना दिया जाता है।

३. टिन्नेवली जिले में ही गर्भवती भेड़ के गर्भाशय को फाड़कर उसमें से बच्चों को निकाल लिया जाता है और उन्हें बलि चढ़ाया जाता है।

४. दक्षिणी अरकाट जिले के पूवनूर नामक स्थाव में बकरे के गले को नेहानी या छेनी से धीरे-धीरे काटकर उसको असीम वेदना पहुंचाई जाती है।

५. विजगापट्टम जिले के अनाकवल्ले नामक स्थान में एक ऐसा बलि-दान किया जाता है जिसमें भाले जैसी तेज नोकदार छुरी को सुअर के गुदा स्थान में डालकर इतने जोर से दबाया जाता है कि

वह अन्दर के भागों को फाड़ती हुइ उसके मुंह से निकल आती है।

६. ट्रिचनापल्ली के पास पुत्तूर के पास कुलुमियायी मन्दिर में दो-तीन माह के भेड़ के बच्चों की गर्दनें दांतों से काटकर अथवा छुरी से छेदकर देवी के सामने उनका रक्त चूसा जाता है।

७. उपनपल्ली नामक स्थान में जीवित पशु की बलि देते समय उसकी गर्दन को थोड़ा-सा काटकर उससे टपकते हुए खून को कटोरे में भर कर देवी के सामने पिया जाता है। बेचारा पशु महावेदना, भोगता हुआ तड़प-तड़प कर प्राण दे देता है।

यद्यपि ये सभी उदाहरण दक्षिण भारत के हैं किन्तु उत्तर भारत भी इस निर्दयता से बचा हुआ नहीं है। कलकत्ता, बनारस, विन्ध्याचल आदि स्थानों में पशु बलिदान की प्रथा बहुतायत से प्रचलित है। और चूंकि उसे धर्म का रूप दे दिया गया है इसलिए समझाने पर भी लोग नहीं मानते। मनुष्य के शरीर में सुई घुसने से ही वह तड़प उठता है किन्तु वही मनुष्य मूक पशुओं के शरीर में छुरी और भाला घुसेड़ते हुए जरा भी विचलित नहीं होता। यह मनुष्य समाज के लिए कितनी लज्जा की बात है। पता नहीं, समझदार मनुष्य भी कैसे किसी को कष्ट पहुंचाकर धर्म हुआ मानता है। सच्चा धर्म तो किसी को न मारना और न सताना ही है। दूसरों के बच्चों को मारकर अपने बच्चों को जीवित रखने की भावना नादानी के सिवा और क्या है?

देवताओं की तृप्ति के अन्य भी अनेक उपाय शास्त्रों में कहे हैं। फिर भी न जाने मनुष्य क्यों पाप का आचरण करता है? यदि रज और वीर्य के संयोग से उत्पन्न हुए मांस से देवता प्रसन्न होते हैं तब तो देवता में और व्याघ्र में कोई अन्तर नहीं रहता। अतः पशु बलिदान से देवता सन्तुष्ट होते हैं यह प्रवाद एकदम असत्य है। तभी तो महाभारत में कहा है—

'यावन्ति पशुरोमाणि पशुगात्रेषु भारत !
तावद् वर्षसहस्राणि पच्यन्ते पशुघातकाः ॥

'हे युधिष्ठिर! पशुओं के शरीर में जितने रोम होते हैं, पशु को मारने वाले उतने हजार वर्ष तक नरक में कष्ट भोगते हैं।'

पशु बलिदान के सम्बन्ध में जैन शास्त्रों में एक उपाख्यान दिया है—इन्द्र की सभा में ब्राह्मण के आचरण को लेकर दो देवों में

विवाद हो गया। अतः उसका निर्णय करने के लिए दोनों देव-पाटली-पुत्र नगर में आये। एक देव मोटा ताजा बकरा बन गया और दूसरा उसका स्वामी। दोनों यज्ञ भूमि के पास से निकले। वहाँ सकल वेद वेदांग का पाठी एक उपाध्याय पांच सौ छात्रों को पढ़ाता था। उसकी दृष्टि हृष्ट पुष्ट बकरे पर पड़ी। उसने सोचा—यह बकरा यज्ञ के योग्य है। उसने बकरे के स्वामी को पुकारा और कहा—यदि यह बकरा बेचना चाहते हो तो यहाँ लाओ। स्वामी ने कहा—यदि आप अपने हाथ की मुद्रिका मुझे दें तो मैं यह बकरा आपको दे सकता हूं।

उपाध्याय ने मुद्रिका देकर बकरा मोल ले लिया और शिष्य को आज्ञा दी - यह बकरा बड़ा बलवान है, इसे दुपट्टे से बांधकर मेरे घर ले जाओ। किन्तु वह बकरा पृथ्वी से ऐसा चिपक गया कि लाख कोशिश करने पर भी वहाँ से न सरका। तब उपाध्याय ने 'इस बकरे के मांस से देव, पितर और ब्राह्मण तृप्त हों' ऐसा कहकर उसके मारने के लिए बड़ा भारी पत्थर उठाया। बकरा तुरन्त मनुष्य की वाणी में बोला—'ब्राह्मण देवता! यह कष्ट आप क्यों करते है? उपाध्याय आश्चर्य और भय के साथ बोला—तुम्हें स्वर्ग भेजने के लिये।

बकरे ने मन में सोचा—यज्ञ के बहाने से जिन बेचारे पशुओं को तुमने खा डाला उनमें मैं नहीं हूं। यहां तो पत्थर को खाने की तरह तुम्हारे दांत टूट जायेंगे। और हंसकर बोला—

'ब्राह्मण' भाई! मुझे स्वर्ग जाने की इच्छा नहीं है, न मैंने उसके लिए तुमसे प्रार्थना ही की है। मैं तो सदा घास-पात खाकर ही सन्तुष्ट रहता हूं। तुमको मुझे मारना उचित नहीं है। यदि तुम्हारा यह विश्वास है कि तुम्हारे द्वारा यज्ञ में मारे गये प्राणी अवश्य स्वर्ग जाते हैं तो अपने माता-पिता, पुत्र तथा बन्धु बान्धवों को वध करके यज्ञ क्यों नहीं करते?

---

१. नाहं स्वर्गफलोपभोगतृषितो नाऽभ्यर्थितस्त्वं मया,
सन्तुष्टस्तृणभक्षणेन सततं हन्तुं न युक्तस्तव।
स्वर्गे यान्ति यदि त्वया विनिहता यज्ञे ध्रुवं प्राणिनः,
यज्ञं किन्न करोषि मातृपितृभिः पुत्रैस्तथा बान्धवैः॥

बेचारे दुर्बल पशु की इस तर्कसंगत बात का प्रभाव श्रोत्रियों पर कहाँ तक पड़ा, यह कह सकना तो कठिन है, किन्तु उनके लिए किसी अंश में कलि का आना अच्छा ही हुआ, क्योंकि कलियुग में कुछ बातों को करने का निषेध ब्रह्मवैवर्त पुराण और पारासर स्मृति में किया है। यथा—

अश्वालम्भं गवालम्भं संन्यासं पलपैतृकम्।
देवराच्च सुतोत्पत्तिं कलौ पंच विवर्जयेत्॥

अर्थात्—अश्वमेध और गोमेध यज्ञ, संन्यास, पितरों का मांस से श्राद्ध और देवर से सन्तानोत्पादन ये पांच कर्म कलि में नहीं करना चाहिए।

बृहन्नारदीय पुराण के १२वें अध्याय में भी यही बात कही है। यथा—

'देवरेण सुतोत्पत्तिर्मधुपर्के पशोर्वधः।
मांसदानं तथा श्राद्धे वानप्रस्थाश्रमस्तथा।
इमान् धर्मान् कलियुगे वर्ज्यानाहुर्मनीषिणः॥'

अर्थात् देवर से सन्तान उत्पन्न करना, मधुपर्क में पशु का वध करना, श्राद्ध में मांस देना, और वानप्रस्थ आश्रम इन पाँच धर्मों को बुद्धिमानों के कलियुग में छोड़ने योग्य कहा है।

जो हो, महावीर और बुद्ध के उपदेश से तथा बुद्धिमानों की बुद्धिमानी के कारण कम से कम कलियुग में तो कुछ सत्कार्य ? बिना पशुवध के ही जायज करार दे दिये गये। यदि देवी देवताओं के नाम पर मन्दिरों में होने वाला निर्दयतापूर्ण पशु वध कलिकाल में और वर्ज्य करार दे दिया जाये तो बेचारे मूक पशुओं के कम-से-कम धर्म कहे जाने वाले अत्याचारों से तो छुट्टी मिल जाये। क्या हम आशा करें कि कुछ बुद्धिमान् इधर भी कृपा करेंगे और धर्म की इस कालिमा को धो डालने का प्रयत्न करेंगे।

पुरातन जैन शास्त्रों के देखने से पता चलता है किसी समय धर्म के नाम पर पशुओं का ही नहीं, किन्तु मनुष्यों का बलिदान भी होता था। यह हम पुरुषमेध यज्ञ की बात नहीं कहते हैं। पुरुषमेध के सिवा होने वाले नर-बलिदान की बात कहते हैं। आचार्य अमृतचन्द

सूरि ने अपने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय नामक ग्रन्थ में इस तरह के कुछ मतों का उल्लेख किया है—

१. एक मत था जिसका यह कहना था कि सुख की प्राप्ति बड़ी कठिनता से होती है। अतः यदि सुखी जीवों को मार दिया जाये तो वे मरकर नियम से सुखी जीवन ही प्राप्त करेंगे। अतः सुखी जीवों का वध कर देना धर्म है।

२. दूसरा मत था कि जब गुरु समाधिस्थ हों तो उनका सिर काट डालना धर्म है क्योंकि वैसा करने से गुरू सदा समाधि में लीन रहेंगे।

३. एक खारपटिक मत वाले थे जो अपने चेलों से कहते थे कि जैसे घड़े में बन्द चिड़िया घड़े को फोड़ देने पर मुक्त हो जाती है वैसे ही इस शरीर को नष्ट कर देने से इसमें बन्द आत्मा मुक्त हो जाता है।

सुनते हैं एक समय काशी में भी काशी करौत से यात्री लोग अपने को कटाकर मुक्ति प्राप्त करते थे। ये तथा इस तरह के अन्य जितने भी अन्ध-विश्वास हैं वे सब धर्म के प्यासे धूर्त लोगों की कृतियां हैं, जो भोले और अन्धविश्वासी मनुष्यों को उल्लू बनाकर अपनी अंटी गर्म करते हैं। मोक्ष इतनी सस्ती वस्तु नहीं है जो इस तरह के अज्ञान से प्राप्त हो सके। उसके लिए तो सबसे प्रथम इस तरह के मिथ्या विश्वासों से छुटकारा पाना आवश्यक है। किसी का खून बहाना या अपना खून देना धर्म का नहीं, अधर्म का अंग है।

आहार के लिए हिंसा (मांसाहार)

धर्म के नाम पर होने वाली हिंसा के मूल में मांस भक्षण करने की भावना ही सन्निहित है यह ऊपर बतलाया है। कम से कम भारत-वर्षमें, जहां अन्न पान की कमी नहीं थी, मांसाहार आम तौर से अप्रचलित था। वैदिक युग में जब याज्ञिकी हिंसा का प्राबल्य हुआ तो मांसाहार ने भी अवश्य ही जोर पकड़ा होगा, क्योंकि हविशेष के रूप में उसका भक्षण करना अत्यन्त आवश्यक कार्य था। बाद को जब भगवान महावीर और बुद्ध के उपदेशों के प्रभाव से वैदिक हिंसा भारतवर्ष से उठ गई और सम्राट अशोक ने अहिंसाधर्म के प्रचार के

लिए जगह-जगह आज्ञायें जारी कीं तो पशुधन के साथ ही मांसाहार का प्रचार भी एक तरह से उठ गया था। क्योंकि चीनी यात्री फाहियान ई० ३९९-४१४ में भारत आया था। वह लिखता है—'चाण्डाल के सिवा न तो कोई किसी जीवित प्राणी को मारता है' न शराब वगैरह मादक वस्तुओं का सेवन करता है।

यहाँ न तो कसाई खाने ही हैं और न शराब की दूकाने हैं। केवल चाण्डालों को ही शिकार करने और मांस खाने की आज्ञा है।'

सातवीं शताब्दी में आया चीनी यात्री हुएन्सांग लिखता है—'सम्राट हर्ष के प्रयत्नों के फलस्वरू पशुहत्या और मांस भक्षण समस्त भारत में बन्द हो गया था।' तेरहवीं शती में विदेशी यात्री मार्कोपोलो तेलगु देश में आया था। वह लिखता है—यहाँ के मनुष्य गो और बैल की पूजा करते हैं और परिहस ? के सिवा कोई गो मांस नहीं खाता। वे किसी पशु को नहीं मारते अतः जो विदेशी वगैरह मांस खाते हैं उन्हें वे लोग कसाई समझते हैं।'

मुस्लिम राज्य के काल में भी भारतीयों में मांस भक्षण की प्रवृत्ति नहीं थी। १६वीं शती में आया फिच नाम का विदेशी लिखता है—यहाँ के बहुत से भारतीय मांस मछली वगैरह नहीं खाते, इससे यहां ये चीजें इतनी सस्ती हैं कि उनकी कोई कीमत ही नहीं है। सतरहवीं शती में आया एक विदेशी यात्री लिखता है—'बड़े-बड़े गावों में एक मुस्लिम शासक रहता है। अतः पशु खरीद लेना संभव है किन्तु जब गाँवों में बनिये आ जाते हैं तो चावल, आटा, दूध के सिवा कुछ भी नहीं मिलता।"

उसी समय आया एक दूसरा यात्री लिखता है—'यहां के निवासी चावल, दाल फल वगैरह से जीवन निर्वाह करते हैं। किन्तु वे कोई भी ऐसी चीज नहीं खाते जिसमें जान हो। वे अण्डे भी नहीं खाते, क्योंकि उनमें से बच्चा निकलता है।' किन्तु अंग्रेजों की अमलदारी और शिक्षा के साथ-साथ भारत में मांसाहार का प्रचार भी बराबर बढ़ता गया। ब्रिटिश भारत के प्राचीन रिकार्डों में लिखा है—'सूरत जैसे घने बसे हुए नगर में समस्त कच्छियों के लिये एक वर्ष में जितने पशु मारे गए उससे अधिक पशु बम्बई में सिर्फ १ मास में अंग्रेजों के लिये मारे गए।'

फल' यह हुआ कि बहुत से यूरोपियन अचानक मर गए, क्योंकि वे खूब गौ और सुअर का माँस खाते थे और गर्मी में भी पोर्तगाल की गर्म शराब पीते थे जो वहां की जल-वायु के अनुकूल न था। वे जहाँ भी जाकर बसे अपनी यह प्रवृत्ति भी अपने साथ लेते गए। आज भारत जैसे धर्म प्रधान देश में मांसाहार की जो इतनी प्रवृत्ति पाई जाती है यह पाश्चात्य सभ्यता की ही देन है। प्राचीन भारतीय ऐसे मांसखोर नहीं थे। अस्तु,—

यहां मांसाहार की उपयोगिता, आवश्यकता तथा उसके लाभालाभ का विचार करना अनुचित न होगा। क्योंकि हिंसा के साथ उसका घनिष्ट सम्बन्ध है।

क्या मांसाहार आवश्यक है?

सबसे प्रथम यह विचारणीय है कि क्या मनुष्य मांसाहारी प्राणी है? शेर' भेड़िया मांसाहारी प्राणियो के साथ मनुष्य की शारीरिक रचना का तुलनात्मक अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य मांसाहारी प्राणियों में नहीं है। मनुष्य के शरीर के अवयव जैसे दाँत, आँत, पेट, नाखून वगैरह मांसाहारी प्राणियों के समान नहीं है। मांसाहारी जन्तुओं के दांत चाकू की तरह नुकीले होते हैं, किन्तु शाकाहारी प्राणियों के दांत सपाट होते हैं। मांसहारी दाँत अपने नीचे आई हुई वस्तु को या तो काट लेता है या उस पर गहरी दरार कर देता है जबकि शाकाहारी दांत मोहर की तरह उस पर अपनी छाप लगा देता है। मनुष्य के आगे के काटने वाले दांत काटकर दो टूक कर देने या चीरने-फाड़ने का काम नहीं करते बल्कि चक्की की तरह खाद्य को पीस डालते हैं। एक शब्द में मनुष्य के दाँत मांस को काटने या अपना शिकार पकड़ने के योग्य नहीं है।

मांसाहारी विशेष करके शिकारी जन्तुओं की आंखें सूरज की रोशनी को सहन नहीं करती। अत: चीते वगैरह दिन में अपने अंधेरे स्थानों में पड़े रहते हैं। किन्तु शाकाहारी प्राणी मनुष्य की तरह अंधेरे में नहीं देख सकते। शेर से लेकर बिल्ली तक सभी मांसाहारी प्राणी

---

१. 'दी हिस्ट्री आफ इन्डिया अंडर मुसलमान रूल्स'।

जीभ से पानी वगैरह पीते हैं जिससे लप-लप की आवाज होती है। किन्तु शाकाहारी प्राणी अपने ओठों से पानी पीते हैं। मनुष्य भी ओठों से ही पानी पीता है। शाकाहारी तथा मांसाहारी प्राणियों के नाखूनों में ही अन्तर होता है। मांसाहारी के नाखून पंजे में छिपे जाते हैं और आक्रमण के समय बाहर निकल आते हैं। किन्तु शाकाहारियों में यह बात नहीं पाई जाती है। यद्यपि मनुष्यों में पंजे की जगह हथेलियाँ होती हैं और नाखून भी होते हैं। किन्तु यदि वे बड़े-बड़े हो जाते हैं तो किसी काम के नहीं रहते। उन्हें काटना पड़ता है। यह तो हुआ मनुष्य शरीर के ऊपरी अवयवों का विचार।

उसके आन्तरिक अवयव भी शाकाहारी प्राणियों के ही अनुरूप है मांसाहारी प्राणियों के भोजन नली बहुत छोटी होती है कुल शरीर की लम्बाई से लगभग तिगुनी होती है। जिससे मल बहुत थोड़ी देर तक भोजन नली में रहता है। किन्तु मनुष्य की······उसके शरीर की लम्बाई से १२ गुनी होती है जिससे मल त्यागने से पहले बहुत समय तक भोजन नलियों में पड़ा रहता है। मनुष्य शरीर में वह शक्ति नहीं है जिसके द्वारा वह मांस के विषैले क्षारों को हजम करके उन्हें बाहर निकाल दे जबकि मांसाहारी प्राणियों के शरीर में यह शक्ति रहती है। डार्विन के सिद्धांत के अनुसार मनुष्य को बंदरों की सन्तान मानी है। बंदर जाति शाकाहारी है वह फल पत्ते वगैरह पर ही अपना जीवन बिताती है बंदर की तरफ माँस का टुकड़ा फेंक कर देखिये वह उसे सूंघेगा भी नहीं।

सारांश यह है कि मनुष्य न तो स्वभाव से ही मांसाहारी प्राणी है और न आदतन मांसाहारी प्राणी है। क्योंकि यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि जिस प्रकार चीते वगैरह अपना शिकार करते हैं और उसे दांतों से चीर-फाड़ कर खाते हैं मनुष्य वैसा मांसाहारी प्राणी न कभी था न आज है, और न भविष्य में होगा। मि० एडवर्ड काल्ड ने एक पुस्तक लिखी थी—आदि मानव की कहानी। उसमें उन्होंने यह बतलाया है कि आरम्भ में मनुष्य भी एक शिकारी और मांसाहारी प्राणी था। पीछे से वह खेतिहर बन गया। खेतिहर बनने से पहले वह फल-मूल का व्यवहार नहीं करता था। यद्यपि फल-मूल काफी परिमाण में पैदा होते थे। आदि।

यदि मि० काल्ड की बात को मान लिया जावे तो भी यह तो स्पष्ट ही है कि आदि काल का वह शिकारी और मांसखोर मानव एक तरह से पशु के ही तुल्य था। न तो उसमें आध्यात्मिक विकास ही हुआ था और न नैतिक वातावरण की ही सृष्टि हुई थी। आज भी जो जातियां केवल पशु-मांस पर निर्वाह करती हैं। उनका रहन-सहन पशु के ही तुल्य है और सभ्यता का विकास नाम मात्र को है। मनुष्य का अभ्युत्थान और उन्नति कृषि की उन्नति के साथ ही साथ हुई है। कृषि की उन्नति ने ही मनुष्य को आध्यात्मिक चिन्तन की सुविधा प्रदान की थी। अत: भूतकाल का मनुष्य चाहे पशु की तरह मांसभक्षी रहा हो किन्तु ज्यों ही उसने अपने योग्य खाद्य-सामग्री अपनाना प्रारंभ किया उसमें उत्तरोत्तर मानवी सभ्यता का विकास होता गया। और उसने अपने पुराने जीवन से छुट्टी ले ली। अत: अब विचारणीय प्रश्न यह है कि आज का मनुष्य जिस रूप में मांस खाता है वह उसके लिए उचित है या नहीं।

मांसाहार अनैतिक है!

यह सब जानते हैं कि मांस कैसे प्राप्त किया जाता है। अपनी खुशी से कोई पशु मरना नहीं चाहता। अत: उसे मारने से पहले अनेक क्रूर और अमानुषिक यातनाएं दी जाती हैं, जब वह वध स्थान पर खड़ा किया जाता है तो उसकी करुण पुकार से दिल पसीजने लगता है। कभी-कभी वह क्रुद्ध भी हो उठता है। और उसी अवस्था में उसे मार डाला जाता है। उस समय उसके जैसे मनोभाव होते हैं उसका प्रभाव उसके मांस पर पड़ता है और वह मांस जो खाता है उस पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहता। इसी से हमारे देश में कहावत है—'जैसा खाये अन्न वैसा होय मन।' अर्थात् हमारा भोजन जैसा होगा हमारा मन भी वैसा ही होगा। भोजन पर केवल शारीरिक स्वास्थ्य ही निर्भर नहीं है किन्तु मानसिक स्वास्थ्य भी निर्भर है। और स्वस्थ वही कहलाता है जिसका शरीर और मन दोनों स्वस्थ होते हैं। स्वस्थ शरीर रोगों से हमारी रक्षा करता है और स्वस्थ्य मन दुर्भावनाओं और दुर्विचारों से हमें बचाता है। मांस भक्षण न तो शरीर के लिए ही स्वास्थ्यकर है और न मन के लिए स्वास्थ्यकर है।

तुलना के लिए मांसाहारी जन्तुओं और शाकाहारी पशुओं को ही ले लीजिए। मांसाहारी शेर, भेड़िया वगैरह कितने खूंखार डरावने और हिंसक होते हैं इसके विपरीत शाकाहारी गाय, बैल, घोड़ा हाथी वगैरह कितने शान्त और सरल होते हैं। उनके भोजन में भेद होना इसका मुख्य कारण है। मांसाहारी और शाकाहारी मनुष्यों में भी प्रायः ऐसा ही भेद पाया जाता है मांसाहार करने वाले मनुष्यों का स्वभाव बड़ा तामसिक हो जाता है। वे बहुत जल्द क्रुद्ध हो जाते हैं, उनकी विचार शक्ति भी कभी-कभी कुण्ठित हो जाती है। किन्तु शाकाहारी शांत विचारशील और दीर्घदर्शी होते हैं। आज विश्व में जो इतनी अशान्ति है इसका एक कारण बढ़ता हुआ मांसाहार भी है। मांसाहार ने मनुष्यों की प्रवृत्ति को तामसिक बना दिया है अतः वे दूसरों के विनाश की ही बात सोचते हैं। मुंह से शान्ति-शान्ति चिल्लाते हैं और नये-नये उपाय खोज डालते हैं जिनसे अशान्ति बढ़ती जाती है। किन्तु इस चीज के वे इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि उन्हें मांस खाते हुये यह विचार ही नहीं आता कि जो जो चीज हम खा रहे हैं उसके लिये किसी को अपनी जान देनी पड़ी है। दूसरों के प्रति इतनी निर्दयता और स्वार्थीपन ने ही मनुष्य को मनुष्य के प्रति निर्दय बना दिया है आज जो पशु के लोहू का प्यासा है कल वही मनुष्य के लोहू का प्यासा बन सकता है। प्यास तो लोहू की है, जो प्यास पशु के लोहू से बुझ सकती है उसके लिये पशु का खून बहाया जाता है और जो प्यास मनुष्य के खून से बुझ सकती है उसको मनुष्य के खून से बुझाया जा सकता हैं। यह तो मनुष्य की बढ़ती हुई स्वार्थपरता का खेल है, कि वह प्रकृति से शाकाहारी होते हुये भी प्रकृति दत्त विचित्र प्रकार के अन्नों और शाक-भाजियों से स्वास्थ्यकर भोजन सुलभ होने पर भी दूसरे की जान की कीमत नहीं आंकता और उसे मार कर अपने पेट में रख लेता है। इसी स्वार्थपरता के बढ़ने पर अपने उचित हक पर स्थिर न रहकर दूसरे मनुष्यों की हत्या करके उनके हक को अपने अधिकार में कर लेता है। शासन तंत्र मनुष्य के हाथ में है। अतः मनुष्यों के लिए तो थोड़ा हो-हल्ला भी मचाया हैं किन्तु पशु बेचारे को कौन गिनता है। उसे तो मनुष्यों ने अपना खाद्य ही समझ लिया और खाद्य के उत्पादन में मछली आदि के भी उत्पादन की कोशिशें की जाने लगी हैं।

मांसाहार के निमित्त से अकेले भारतवर्ष में प्रतिवर्ष कितने दुधारू पशु मार डाले जाते और उससे देश को कितनी बड़ी आर्थिक तथा स्वास्थ्य-विषयक क्षति उठानी पड़ती है उसका विवरण तो आगे दिया जाएगा। यहाँ तो केवल इतना ही बतलाना है कि माँसाहार अनैतिक है वह मनुष्य को अनैतिकता की ओर ले जाता है, उसकी कोमल वृत्तियों को मसल डालता है तथा उसे निर्दयी अकृतज्ञ और दुराचारी बनाता है।

मांसाहार अस्वास्थ्यकर है

मांसाहार का मनुष्य के शारीरिक स्वास्थ्य पर भी अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। वैसे तो जो खानपान मानसिक दृष्टि से अस्वास्थ्यकर है वह शारीरिक दृष्टि से कभी स्वास्थ्यकर नहीं हो सकता। किन्तु मांसाहार तो अनेक रोगों का जनक है। आज से कुछ वर्ष पहले पाश्चात्य डाक्टर एक स्वर से माँस भक्षण के लाभ बतलाते थे और उनका यहां तक कहना था कि मांस के बिना खाये मनुष्य का जीवित रह सकना असम्भव नहीं है किन्तु अब उनका भी मत बदल गया है।

'डाइड एण्ड फूड' नाम की अपनी पुस्तक में प्रसिद्ध डा० हेग ने लिखा है—'जिन भयानक रोगों से मानव समाज पीड़ित है उनमें से पिचहत्तर प्रतिशत रोग जैसे पागलपन, कैंसर, अशक्तता और क्षय प्रकृति की शिक्षाओं को न मानने के दुष्परिणाम हैं। प्रकृति का कहना है कि इसमें कोई गलतफहमी नहीं है कि मनुष्य एक फलाहारी प्राणी है, मांसाहारी नहीं है।

डा० हेग लिखते हैं कि मांसाहार से रक्त में 'यूरिक एसिड पैदा होता है। और साधारण से वह तिगुना हो जाता है तथा 'यूरिक एसिड' के बढ़ने से उत्पन्न होने वाले रोग असंख्य हैं। जिनमें गठिया, सिरदर्द, मिरगी,, मानसिक निर्बलता तथा रक्तहीनता उल्लेखनीय हैं। इनके सिवा कैंसर रोग मांसाहार का एक सुनिश्चित परिणाम है। गठिया, कोष्ठबद्धता, दुर्बलता का अनुभव, मन्दाग्नि और अण्डाक्षार सम्बन्धी रोग कैंसर रोग के वाह्य चिह्न हैं। बहुत से लोग कैंसर रोग की चिकित्सा चीर-फाड़ वगैरह को मानते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। कैंसर रोग की उचित चिकित्सा केवल वनस्पति आहार है।

कैंसर एक भयानक रोग है। यह मृत्यु का कारण है और मांसाहारी समाज में बहुत तेजी से फैल रहा है। कैसर के सिवा अन्य भी कुछ ऐसे रोग हैं जो मांसाहारियों को होते हैं। उदाहरण के लिए टी० बी० का नाम उल्लेखनीय है। यह वास्तविक सत्य है कि मांस के लिये जो पशु मारे जाते हैं उनमें से बहुतों को यह रोग होता है। और उनसे उनका मांस खाने वालों को हो जाता है।

प्रोफेसर हचिसन ने इस सिद्धान्त का आविष्कार किया है कि सड़ी हुई मछलियों के क्षयरोग से कुष्ठ रोग अधिकतर फैलता है।

इसके सिवा मांस मादक और उत्तेजक तत्वों का प्रसारक है। माँस भक्षण से पैदा होने वाली अशक्तता, दुर्बलता और जड़ता शराब, चाय और तम्बाकू वगैरह मादक तत्वों के पान की उत्कृष्ट लालसा पैदा करती है। और मांस तथा मदिरा वगैरह के संयोग से नैतिक पतन, रोग और पागलपन वगैरह फैलता है। मांसभक्षी देशों को गणना बतलाती है कि वहाँ मानसिक रोग इतने बढ़ गये हैं कि पागलखाने रोगियों से भरे रहते हैं।

माँसाहार शक्तिदायक नहीं है

लोगों में यह एक भ्रमपूर्ण धारणा फैली हुई है कि मांस खाने से शक्ति और स्फूर्ति आती है। तथा मांसाहारी बलवान, साहसी और निडर होता है। लोगों ने भ्रम से निर्दयता और अविचारकता को शक्ति और साहस मान लिया है, क्योंकि मांसाहारियों में ये दोनों भाव अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। मांसाहारी जल्द उत्तेजित हो जाता है और बिना बिचारे मारकाट करने पर उद्यत हो जाता है इसको शक्ति या स्फूर्ति नहीं कहा जा सकता। शक्ति तो शारीरिक और मानसिक दृढ़ता का नाम है और उसका मापदण्ड मनुष्य की कार्य कर सकने की क्षमता है। एक मनुष्य शरीर से मजबूत होने पर भी यदि देर तक कार्य नहीं कर सकता तो उसे शक्तिशाली नहीं कहा जा सकता। एक मनुष्य भारी बोझ उठा सकता है किन्तु यदि उसे लम्बी दौड़ में दौड़ना पड़े तो वह थक जायेगा। इस बात को दृष्टि में रखते हुये यदि देखा जाये तो यथार्थ में मांसाहारी से शाकाहारी अधिक शक्तिशाली होता है।

उसका कारण यह है कि जिस भोजन में यूरिक एसिड होता है उसके खाने से शरीर में यूरिक एसिड की मात्रा अधिक बढ़ जाती है और ऐसा होने पर थकान जल्द आ जाता है। मांस में यूरिक एसिड होता है यह ऊपर बताया है। अतः मांस शक्तिदायक न होकर उल्टा ही होता है। मांस को शक्तिदायक माना जाता है, प्रोफेसर हेग के मतानुसार उसका खास कारण यह है कि मांस में आम्लक्षार पाया जाता है जो उत्तेजक होता है अतः उसको खाने से पाचन क्रिया को उत्तेजना मिलती है और रक्त-संचार बढ़ता जाता है। अतः मांसाहारी जल्द ही अधिक शक्ति पाने में समर्थ हो जाता है। किन्तु उसका प्रभाव जल्द ही एकदम समाप्त हो जाता है। क्योंकि उत्तेजना तो कोई शक्ति नहीं है, उससे तो इतना ही होता है कि जल्दी शक्ति प्राप्त हो जाती है, ज्यों ही वह शक्ति खर्च हो जाती है नियम से उसके बाद क्षीणता का अनुभव होता है। इसके विपरीत जो मनुष्य यूरिक एसिड से रहित भोजन—जैसे रोटी, पनीर वगैरह खाते हैं उनमें यूरिक एसिड के पैदा न होने से वे उसके कारण पैदा होने वाली थकान से बचे रहते हैं।

विदेशों में प्रतियोगिताओं के द्वारा भी इस बात का निर्णय किया जाता है कि मांसाहारी और शाकाहारी में से कौन अधिक शक्तिशाली होता है। प्रो० हेग ने इस तरह के कुछ उदाहरण अपनी पुस्तक में दिये हैं। दो इस प्रकार हैं—

जून १८६८ में १४ मांसाहारियों और ८ शाकाहारियों ने ७० मील की गमन-प्रतियोगिता में भाग लिया। १७ शाकाहारी अच्छी हालत में सर्वप्रथम अपने स्थान पर पहुंचे। मांसाहारियों में से केवल एक व्यक्ति अन्तिम शाकाहारी के अपने स्थान पर पहुंचने से १ घण्टे बाद पहुंचा और वह भी एकदम थका हुआ। शेष मांसाहारी ३५ मील के बाद ही अपना साहस खो बैठे।

मई १६०२ में १२५ मील की गमन प्रतियोगिता में १८ शाकाहारियों तथा १४ मांसाहारियों ने भाग लिया। १० शाकाहारी और केवल तीन मांसाहारी उसमें सफल हुए। सर्वप्रथम आने वाले छहों व्यक्ति शाकाहारी थे। उनमें भी सर्वप्रथम विजेता सर्वप्रथम पहुंचने वाले मांसाहारी से ७ घण्टे पहले अपने स्थान पर पहुंचा था। और सबसे

अन्त में पहुंचने वाला मांसाहारी सबसे अन्त में पहुंचने वाले शाकाहारी से चार घण्टे से भी बाद में पहुचा।

कुछ लोगों का विश्वास है कि मांस के खाने से मस्तिष्क का निर्माण होता है और रक्तपान करने से मानव शरीर में रक्त की वृद्धि होती है। किन्तु शरीर विज्ञान बतलाता है कि इस विश्वास में जरा भी सच्चाई नहीं है। हमारा शरीर अपने योग्य अवयवों का निर्माण स्वयं करता है।

इतिहास प्रेमियों को ज्ञात है कि नेपोलियन प्रथम अपने जीवन के उत्तरार्द्ध में एकदम शक्तिहीन हो गया था और अपस्मार रोग ने आक्रमण कर दिया था। इसका कारण उसकी खूराक थी क्योंकि वह प्रतिदिन तत्काल मारे गए बैल का भेजा खाता था। इस झूठे उपचार से उसके पेट में कैंसर हो गया। अन्त में ५१ वर्ष की उम्र में ही उसका मरण हो गया। जो लोग मिथ्या विश्वासों में पड़कर प्रकृति के नियमों की परवाह नहीं करते उनकी ऐसी ही दशा होती है।

कुछ लोगों का कहना है कि कुछ लोग शाकाहार पर अपना जीवन बिता सकते हैं किन्तु सब के लिए यह सम्भव नहीं है। उम्र, शारीरिक संगठन, शारीरिक तथा मानसिक श्रम, जलवायु वगैरह का अन्तर होने से मनोरंजन में भोजन में भी अन्तर होना 'आवश्यक है। यह कथन ठीक है किन्तु इससे इतना ही साबित होता है कि उक्त बातों का ध्यान रखते हुए भोजन के परिमाण और उनके प्रकारों में भेद होना जरूरी है जिससे उचित पोषक तत्व शरीर में पहुंच सके। परन्तु इससे किसी के लिए मांसाहार करना तो आवश्यक नहीं ठहरता क्योंकि मनुष्य स्वभाव से शाकाहारी प्राणी है अत: शाकाहार में वे सब पोषक तत्व मौजूद हैं जो भी मनुष्य शरीर के लिए आवश्यक हैं।

डा० हेग लिखते हैं—'वानस्पतिक राज्य की उपज के ऊपर जीवन बिताना बहुत सरल है। मुझे अपने अन्वेषणों से पता चला है कि ऐसा होना केवल संभव हीं नहीं है बल्कि हर दृष्टि से शाकाहार अत्यन्त श्रेष्ठ हैं और उससे अपरिमित मात्रा में तथा शारीरिक शक्ति प्राप्त होती है।

'होम साइक्लोपीडिया' में डा० फूट लिखते हैं—शाकाहार में भोजन के सब आवश्यक तत्व वर्तमान हैं। उनके सम्मिश्रण से मांस से अधिक पोषण तत्व प्राप्त होते हैं।'

एक दूसरे डाक्टर लिखते हैं—'यह निश्चित है कि शरीर के पोषण के लिए आवश्यक नाइट्रोजन के लिए मांसाहार जरूरी नहीं है। रसायनिक दृष्टि से उसके लिए वानस्पतिक राज्य से चुनी हुई खुराक पूर्णतता उचित तथा पर्याप्त है।'

यह सब जानते हैं कि मनुष्य जाति जिन पशुओं का मांस खाती है प्रायः वे, सब शाकाहारी होते हैं। उनके शरीर का निर्माण शाकाहार से ही हुआ है। शाकाहार से बने हुए शरीर को काटकर उसका मांस खाने के बजाय यदि शाकाहार ही किया जाये तो क्या उस जाति का बल प्राप्त नहीं हो सकता। विशेषज्ञों का मत है कि चूंकि पशु का मांस अपना काम कर चुकता है अतः वह इस योग्य नहीं रहता है कि उसके खाने से शरीर में नया निर्माण हो सके।

१९१० में मि० लाभशंकर लक्ष्मीदास ने शाकाहार के सम्बन्ध में लन्दन काउन्टी कौंसिल के एक प्रयोग का समाचार पर्चे में प्रकाशित कराया था। जो इस प्रकार है—'लन्दन शाकाहारी समिति के मंत्री ने ६ माह तक दस हजार बच्चों को शाकाहार पर रखा और उतने ही बच्चों को मांसाहार पर रक्खा। छः माह के बाद डाक्टरों के द्वारा दोनों ओर के बच्चों की परीक्षा की गई। उससे यह प्रमाणित हुआ कि मांसाहारी बालकों से शाकाहारी बालकों का स्वास्थ्य उत्तम था, वज़न अधिक था, मांशपेशी मजबूत थी और चमड़ा साफ सुथरा था।'

अतः आक्सफोर्ड के डाक्टर जान' वुड की सम्मति के अनुसार (जो उन्होंने व्यक्तिगत अनुभव तथा वर्षों तक अस्पतालों में रोगियों की चिकित्सा करने के आधार पर कायम की थी) मांसाहार अनावश्यक अस्वाभाविक और अस्वास्थ्यकर है।

---

1. 'As a medical man I desire to add my testymony both from the results of personal experience and from observation throughout many years of hospital and private practice, I maintain that flesh-eating is unnecessary, unnatural and unwholesome.'

शाकाहार के गुण

शरीर को स्वस्थ रखने के लिये जैसे शुद्ध जलवायु आवश्यक है वैसे ही स्वच्छ और शुद्ध भोजन भी आवश्यक है। शाकाहार या फलाहार या एक ऐसा शुद्ध सात्विक और पुष्टिकर तथा रुचिकर भोजन है जिसे देखकर न तो किसी को ग्लानि और अरुचि होती है और जो बिना किसी को कष्ट पहुंचाये सरलता से प्राप्त किया जा सकता है। तरह-तरह के अनाज, तरह-तरह की शाक-सब्जी और तरह तरह के रंग-बिरंगे फलों को देखकर दर्शक का चित्त प्रसन्न हो जाता है। उदासीन की उदासी भाग जाती है और भरे पेट मनुष्य को भी खाने की इच्छा हो आती है। यह वह आहार है जिसे प्रकृति जन्म देती है और प्रकृति ही पालन-पोषण करती है। जब वह तैयार हो जाता है तो वृक्षों से स्वयं टपक पड़ता है उसे तोड़ने के लिये कोई भी कष्ट देने की जरूरत नहीं पड़ती।

सुबह उठकर किसी सब्जी मण्डी में चले जाइये और रंग-बिरंगे तरह तरह के फलों और साग-सब्जियों से अपनी डलिया भर लाइये। या स्वयं ही अपने आंगन वगैरह में थोड़े से परिश्रम से उत्पन्न कर लीजिये। बच्चों से उन्हें बचाना आपके लिये कठिन हो जायेगा। आप उन्हें छिपाते फिरेंगे और बच्चे उन्हें अपने भरसक बिना खाये न छोड़ेंगे। फलों के प्रेमी जितने बच्चे होते हैं उतने बड़े नहीं होते। वृक्षों की अपेक्षा बच्चे प्रकृति के अति निकट होते हैं। अतः वे प्रकृति दत्त आहार को अधिक पसन्द करते हैं, जब वे जन्म लेते हैं तो प्रकृति उनके लिये माता के स्तनों में दूध उत्पन्न कर देती है। जिसे पीकर बच्चे पुष्ट और नीरोग रहते हैं।

असल में मांसाहार में ऐसी कोई विशेषता नहीं है जिसे वानस्पतिक राज्य से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसके सिवा शाकाहार में एक सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसमें से अपनी प्रकृति स्वास्थ्य और जल वायु के अनुकूल आहार चुना जा सकता है क्योंकि किन्हीं वनस्पतियों में भोजन के सभी मुख्य अंश मौजूद हैं तो किन्हीं में शक्कर और तेल की बहुतायत है। दूसरे जबकि मांसाहार रोगों का कारण है तब शाकाहार से न केवल रोग उत्पन्न होते बल्कि उत्पन्न

हुये रोग दूर हो जाते हैं। ऐसा देखा गया है कि केवल फलाहार करने से भयानक रोग भी नष्ट हो जाते हैं।

कुछ विदेशी डाक्टरों ने पियक्कड़पने कीं आदत के कारणों और उससे छुटकारा पाने के सम्बन्ध में खोज की। फलस्वरूप वह इस नतीजे पर पहुंचे कि मांसाहार की अधिकता से ही मादक द्रव्यों के सेवन की ओर अधिक रुचि होती है। उन्होंने मांसाहार छुड़ाकर मदिरा पान की इच्छा से अनेक रोगियों को विरत कर दिया और फलाहार कराने से उनका रोग शान्त हो गया। अतः जब मांसाहार से मनुष्य में बुरी आदतें पैदा होती हैं तब शाकाहार उन आदतों से छुटकारा दिलाता है।

इनके सिवा शाकाहार का एक बड़ा लाभ यह है कि वह मांस-पेशियों को मजबूत बनाता है। उदाहरण के लिये बनमानुष को ले लीजिये। वह बड़ा शक्तिशाली होता है। और शेर तक का सामना करता है। वह फलाहारी होता है। हाथी शाकाहारी है जो दो सो वर्ष तक जीता है तथा सौ सवा सो मन तक बोझा उठा सकता है। गैण्डा भी बहुत शक्तिशाली होता है। वह मांसाहारी चीते से बीस गुना भारी होता है। बैल, गाय और घोड़ा तो हमारे पालतू जानवर हैं। ये सब शाकाहारी हैं। और बड़े स्वस्थ मजबूत और परिश्रमी जानवर हैं। घोड़े से तो शक्ति का माप किया जाता हैं। अतः जैसे शाकाहार से ये जानवर मजबूत और शक्तिशाली हो सकते हैं वैसे ही पुरुष भी हो सकता है। अतः यह धारणा कि शाकाहार जाति को नामर्द और लड़ाई के अयोग्य बनाता है बिल्कुल असत्य है। हाँ इतना अवश्य है कि शाकाहारी शान्तिप्रिय होता है। और अनावश्यक रक्तपात से बचना निश्चय ही सद्गुण है। इन सद्गुणों से ही संसार में शान्ति रह सकती है इसके सिवा शाकाहारी विजेताओं की कथा इतिहास में अंकित है।

प्रसिद्ध लेखक आदम स्मिथ लिखता है कि ग्रीक और रोमन सेनाएं मांस का सेवन नहीं करती थीं। उन्होंने अनेक देशों को जीता। किन्तु जब उन्होंने मांस खाना शुरू कर दिया तो उनकी शक्ति घटने लगी और वे सुस्त और काहिल बन गईं। परसिया के सम्राट सीरस ने अनेक देशों को जीता और परसिया को एक गिरे हुये देश से विशाल

साम्राज्य बनाया। वह केवल स्वयं ही शाकाहारी नहीं था किन्तु उसने अपनी सेना को भी शाकाहारी करने की सख्त आज्ञा दे रक्खी थी। भारतवर्ष में भी सम्राट् चन्द्रगुप्त, अशोक, श्रीहर्ष आदि अनेक जैन बौद्ध और शैव राजा मांसाहारी नहीं थे फिर भी उन्होंने विदेशियों के आक्रमणों से भारत की सुरक्षा करके उसे समृद्ध बनाया था।

यह बात उल्लेखनीय है कि हिन्दू जाति को अन्य जातियों से भिन्न करने वाली वस्तुओं में से एक शाकाहारी भी है। जब भारतवर्ष के सुदिन थे तब भारतीय अधिकतर शाकाहारी थे और मद्य मांस से बचते थे। किन्तु जब उन्होंने इन चीजों से परहेज करना कम किया वे विलासी बन गये और आपस की फूट घमण्ड और लापरवाही के कारण वे न केवल अपना साम्राज्य खो बैठे, बल्कि दास बन गये। यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि बिना नैतिक पतन हुये किसी देश या जाति का पतन नहीं हो सकता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि पहले नैतिक पतन होता है और उससे राजनैतिक पतन का प्रारम्भ होता है हिन्दुओं के नैतिक पतन ने ही उनकी राजनैतिक दासता को बुलाया और यदि अभी भी वे नहीं चेते तो प्राप्त स्वतन्त्रता भी टिक नहीं सकेगी। अस्तु!

शाकाहार आर्थिक दृष्टि से भी लाभदायक है। यह हिसाब लगाया है कि एक एकड़ जमीन में घास पैदा करके उससे पालित मवेशियों का मांस जितने मनुष्यों के लिये पर्याप्त हो सकता है, उस जमीन को अच्छी तरह से जोतकर यदि उसमें खेती की जाये तो उससे उत्पन्न होने वाला अन्न उससे बीस गुने मनुष्यों को पर्याप्त हो सकता है। एक कसाई खाने में सुअर के बच्चों को मोटा ताजा बनाने के लिये जई का आटा दिया जाता था। जब उनको मार कर मांस तैयार किया गया तो मालूम हुआ कि वह मांस जितने आदमियों के लिये पर्याप्त हुआ, सुअरों को खिलाया गया जई का आटा उससे चौगुने मनुष्यों के लिए पर्याप्त था।

इसके सिवा मांसाहार के लिये पशुओं के मारे जाने से देश की अमूल्य संपत्ति रूप पशुधन की जो क्षति होती है वह तो एक बड़ी आर्थिक हानि है। बहुत वर्ष बीते एक अंग्रेजी पत्र 'इण्डियन मिरर' ने एक अधिकारी व्यक्ति की सूचना के अनुसार यह प्रकट किया था कि

समस्त भारत में अकेले यूरोपियनों के लिये प्रति दिन ६० गाएं मारी जाती हैं। भारत जैसे कृषि प्रधान देश में, जहाँ कृषि का एकमात्र सहारा बैल हैं, प्रति दिन इतनी बड़ी संख्या में गौओं का मारा जाना कितनी बड़ी आर्थिक हानि है। यदि इस विनाश से पशुधन को बचाया जा सके तो देश की सम्पत्ति बढ़ने के साथ ही साथ घी दूध का दुर्भिक्ष भी दूर हो जाये, अच्छी नस्ल के बैलों से जमीन की उपज बढ़ जाये, गोबर के खाद से मिट्टी उर्वरा हो जाये और भारत के भावी नागरिकों को अच्छी खुराक मिलने लगे जिससे हमारा राष्ट्र सबल और सम्पन्न वन सकता है।

वर्तमान में हमारा राष्ट्र बड़ी कठिनाइयों से गुजर रहा है। एक ओर खाद्य समस्या जटिल होती जाती है तो दूसरी ओर आर्थिक कठिनाइयाँ भी बढ़ती जाती हैं। घी, दूध का दर्शन भी दुर्लभ हो गया अतः थोड़े से व्यय पर जो भोजन स्त्री-पुरुषों को स्वस्थ और शक्तिशाली बना सकता है वही हमारे देश के लिये लाभकारी हो सकता है। अतः भोजन के लिये किये जाने वाले वध से बचना ही चाहिये।

अब प्रश्न यह होता है कि स्वयं मरे हुये पशु का मांस खाने में क्या हानि है। जहाँ तक हम जानते हैं स्वयं मरे हुये पशु का मांस जो जातियाँ खाती हैं वे मांसाहारियों में भी अच्छी दृष्टि से नहीं देखी जातीं। ऐसा मांस तो वहुत ही अधिक हानिकर है, क्योंकि स्वयं पशु या तो रोग से मरता है या बूढ़ा हो जाने पर मरता है दोनों ही अवस्थाओं में उसका मांस खाना हानिकर है। बौद्ध धर्म में त्रिकोटि परिशुद्ध मांस के खाने की आज्ञा पाई जाती है। जिसका खुलासा बौद्ध धर्म और अहिंसा प्रकरण में किया गया है। इस आज्ञा से बौद्ध धर्मी देशों में मांसाहार की प्रचलित परम्परा का निरोध नहीं हो सका है। बल्कि प्रकारान्तर से मांसाहार करने की प्रवृत्ति चालू है। उदाहरण के लिये तिब्बत बौद्ध धर्मी हैं और वहाँ के लामा भी बौद्ध हैं। उनके लिये नगर से दूर पशुओं का वध किया जाता है जिससे उसका मांस त्रिकोटि परिशुद्ध कहा जा सके। आज जो मांस की दूकानों पर मांस बिकता है वह भी एक तरह से त्रिकोटि परिशुद्ध ही है क्योंकि जो व्यक्ति उसे खरीद कर लाता है उसके लिये तो पशु मारा नहीं गया वह तो सर्वसाधारण के लिये मारा गया है। अतः वह व्यवस्था भी यज्ञीय पशु के

मांस भक्षण करने को प्रथा के जैसी ही समझनी चाहिये। उससे मांसाहार निषेध को कोई बल नहीं मिलता।

औषधि के लिए हिंसा

भारत के प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों में अन्य वस्तुओं के साथ मांस के भी गुण-दोष बतलाये हैं। उससे यही प्रतीत होता है कि जो मनुष्य मांसाहार करते हों, वैद्य उनके रोग और प्रकृति के अनुसार उन्हें मांसाहार करने की सम्मति दे सके। जैनाचार्यों ने भी वैद्यक पर अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु उन्होंने किसी भी औषधी के अनुपान रूप से या पथ्य रूप से रोगी को मांस खिलाने का विधान नहीं किया, क्योंकि वे मानस शरीर की स्वस्थता के लिए मांसाहार को अनावश्यक समझते थे। किन्तु पाश्चात्य चिकित्सा प्रणाली में शायद ही कोई वस्तु बची हो जिसका उपयोग औषधि निर्माण के लिए न किया जाता हो। इसमें सन्देह नहीं कि पाश्चात्य चिकित्सकों ने शरीर को चीर फाड़ को प्रक्रिया में आशातीत उन्नति की है और उनकी चिकित्सा की वह सबसे बड़ी विशेषता है। तथा उससे मनुष्य जाति को बहुत से शारीरिक कष्टों से छुटकारा मिलने में सहायता मिली है। किन्तु जब हम उन निर्दयतापूर्ण प्रक्रियाओं का अध्ययन करते हैं जिनके द्वारा पाश्चात्य चिकित्सा में इतनी अभ्युन्नति हुई है तो रोंगटे खड़े हो जाते हैं। पाश्चात्य चिकित्सकों ने अपने क्रूरतापूर्ण प्रयोग केवल पशु शरीर पर ही नहीं किये किन्तु जीवित मानवशरीरों पर भी किये हैं। पहले जिन लोगों को मृत्यु दण्ड दिया जाता था उन्हें जीवित ही किसी प्रयोगशाला को सौंप दिया जाता था। और डाक्टर लोग उस जीवित प्राणी का अंग चीर-चीरकर अपने प्रयोग किया करते थे। मनुष्य पीड़ा से तड़फड़ाता था मगर उसे जीवित रखने का प्रयत्न किया जाता था, जिससे उसके शरीर पर बहुत दिनों तक प्रयोग किया जा सके। प्राय: हब्शी लोगों को, जो क्रूर दासप्रथा के शिकार बने हुए थे, ऐसी ही मृत्यु यंत्रणा दी जाती थी। पशु-पक्षियों के शरीरों पर तो आज भी मानव चिकित्सकों की पैनी कैंचियाँ और छुरियाँ चलती ही रहती हैं। उनके शरीर के विविध द्रवों से न जाने कितनी दवाइयां तैयार की जाती हैं। चेचक के टीके की दवाई का

निर्माण तो पशु शरीर पर ही किया जाता है। भारत से पकड़ कर जो बन्दर और कुत्ते विदेश भेजे जाते हैं उनका उपयोग ऐसे हो क्रूर कार्यों में किया जाता है।

मनुष्य की स्वार्थपरता ने उसे अत्यन्त क्रूर और निर्दय बना दिया है। पशुजगत के लिए उसके दिल में जरा भी दया नहीं है। अपना शरीर अपना स्वास्थ्य और अपनी आरामतलबी ही उसे इष्ट है। उसके लिए यदि दूसरों को घोर कष्ट पहुंचता हो, यहाँ तक कि उनके प्राण भी ले लिये जाते हों तो उन्हें कोई चिन्ता नहीं है। धीरे-धीरे मनुष्य की यह स्वार्थपरता उसके ही विनाश की सामग्री इकट्ठी किये देती है। मनुष्य मनुष्य के खून का प्यासा होता जाता है। प्रारम्भ में जो लापरवाही पशु-समाज की ओर दिखाई गई उसने मनुष्य को और भी नीचे गिरा दिया है और अब वह 'सब चीजें मनुष्यों के लिए हैं' इस स्वार्थपूर्ण भावना को संकुचित करके 'सब मेरे लिए है' इस गर्हित भावना का शिकार होता जाता है। अत्यधिक उपयोगितावाद भी अनर्थकारी ही है।

अतः उपयोगिता के साथ-साथ या मानव शरीर को स्वस्थ और सबल रखने के साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखना आवश्यक है कि मानव शरीर में बास करने वाला आत्मा भी स्वस्थ और सबल बना रहे। आत्मा को मारकर शरीर को जीवित रखने से कोई लाभ नहीं है। मनुष्य की कोमल वृत्तियां ही मानव समाज की सुरक्षा के लिए आवश्यक कवच हैं। उनके मर जाने पर मानव समाज जीवित नहीं रह सकती। अतः आहार की तरह ही औषधि के लिए भी पशु-पक्षियों का निर्दयतापूर्ण वध रुकना चाहिए। इसी में मानव का कल्याण है।

मनोविनोद के लिए हिंसा

जंगल के शिकारी जानवर तभी किसी पर आक्रमण करते हैं, जब भूखे होते हैं या उन पर कोई हमला करता है। किन्तु शिकारी मनुष्य उन जानवरों से भी गया बीता है, क्योंकि वह बिना आवश्यकता केवल मनोविनोद के लिए भी पशु-पक्षियों का शिकार करता है। जो हिंसक जन्तु आदमखोर हो जाते हैं जंगलों से आकर मनुष्यों की बस्तियों पर हमला कर बैठते हैं। उनको यदि स्वार्थी मनष्य मारे तो

उसे उचित कहा जा सकता है, किन्तु जंगलों में जाकर हिरन जैसे शान्त प्राणियों पर गोली चलाना कहाँ तक उचित है? इससे कैसे वीरता आती है यह हम नहीं समझ सकते। यदि पशु समाज उन साधनों से सम्पन्न होता जो मनुष्य को प्राप्त हैं तो निश्चय ही पशु समाज की ओर से मनुष्य समाज पर ऐसे भयानक आरोप लगाये जाते कि मनुष्य समाज को अपना मुंह दिखला सकना भी कठिन हो जाता। मनुष्य की शिकारी मनोवृत्ति के कारण जंगल जीव-जन्तुओं से शून्य होते जाते हैं, अनेक जातियां तो नष्ट ही हो गईं। फलतः सरकार को किन्हीं जंगलों में शिकार खेलने की मनाई करनी पड़ती है। सचमुच में मनुष्य भी अजीब जंतु है जो पृथ्वी की उपज से प्राप्त होने वाले भोगोपभोग के साधनों से तृप्त न होकर कमजोर और मूक पशुओं को मारकर अपना दिल बहलाता है। जरा कल्पना तो कीजिये कि जंगल के जीवजन्तु डरकर भागे जा रहे हैं और मनुष्य उनके पीछे घोड़ा दौड़ाता आता है। नर मादा से विलग हो गया है और मादा अपने बच्चे के लिये आकुल है जो दौड़ नहीं पाता। फिर भी घुड़सवार उन्हें गोली का शिकार बनाता है। एक व्याध के बाण से एक काम-मोहित सारस को विंधता देखकर कवि वाल्मीकि के मुख से जो कविता प्रसूत हुई थी प्रत्येक शिकार के प्रेमी को उस पर शांतचित्त से विचार करना चाहिए—

उक्त हिंसाओं के अतिरिक्त मनुष्यों में जो चमड़े की बनी वस्तुओं के व्यवहार की प्रथा जोर पकड़ती जाती है, उसके कारण भी पशु हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है। जो पशु स्वयं मर जाते हैं उनके चमड़े का उपयोग किया जा सकता है। किन्तु स्वयं मरे हुए पशु का चमड़ा सख्त होता है। अतः मनुष्य के कोमल अंगों के लिए कोमल चर्म तैयार करने की दृष्टि से गाय-बैलों का वध बड़ी क्रूरता से किया जाता है। उनके शरीर को पहले बेतों से खूब धुना जाता है। जब बेतों की मार से चर्म में रक्त का प्रवाह तेजी से होने लगता है, तुरन्त पशु को मशीन पर खड़ा कर दिया जाता है और जीवित गाय का चर्म उतरकर अलग हो जाता है। यह चर्म ही 'क्रूम लेदर' कहलाता है जिससे बढ़िया जूते वगैरह तैयार होते हैं जिसकी कोमलता पर हम मुग्ध हो जाते हैं और उनकी प्रशंसा करते हुए नहीं थकते। इसी तरह अंग्रेज लेडियों के लिए मुलायम खालें, दस्ताने, कोट वगैरह तैयार किये जाते हैं। सुअरों से

कोमल बाल निकाले जाते हैं। विलासी मनुष्यों के लिए बेचारे मूक पशुओं को न जाने कितनी यंत्रणायें सहनी पड़ती हैं। यदि कोई लेखक मनुष्यों के लिए पशुओं पर किये जाने वाले अत्याचारों की रोमहर्षक कहानी प्रस्तुत कर सकें तो शायद मनुष्य की आँखें खुल सकें और वह देख सके कि उसमें और पशु में से कौन वास्तव में अधिक क्रूर और हिंसक है।

इस प्रकार गृहस्थ को ऊपर कही गई हिंसाओं में से कोई भी हिंसा नहीं करना चाहिए। अर्थात् धर्म के नाम पर, भोजन के लिए, औषधि के लिए और मनोविनोद के लिए किसी भी प्राणी का घात नही करना चाहिए। ये सब हिंसाएं संकल्पी अथवा अनारम्भी कही जाती हैं। इनके विना भी मनुष्य अपना निर्वाह कर सकता है। किन्तु सावधानीपूर्वक जीवन-निर्वाह करते हुए भी जो हिंसा हो जाती है, जिसे टालना सम्भव नहीं है वह हिंसा आरम्भी कहलाती है। अहिंसा का एकदेश पालन करने वाला श्रावक आरम्भी हिंसा का त्याग नहीं कर सकता, क्योंकि बिना आरम्भ के गृहस्थाश्रम नहीं चल सकना फिर भी वह उसमें सावधानी तो करता ही है।

आरम्भी हिंसा

किसी भी समाज, देश या राष्ट्र की रीढ़ तो वे गृहस्थ ही हैं जिनके समूह से वह समाज या देश अथवा राष्ट्र बना है। उन गृहस्थों का काम बिना कुछ किये नहीं चल सकता। सबसे प्रथम तो उनके सामने आत्मा और आत्मीय जनों के जीवन निर्वाह का प्रश्न है। उसके लिए उन्हें दो काम करना आवश्यक है—एक जीविका उपार्जन, दूसरे उपार्जित धन से जीविकोपयोगी सामग्री लाकर उससे शरीर का पालन-पोषण करना। ये काम ऐसे हैं जिन पर केवल गृहस्थ का ही नहीं किन्तु सबका योगक्षेम निर्भर है। क्योंकि जीविका उपार्जन पारस्परिक व्यवहार का विषय है। अकेला मनुष्य बिना दूसरों के सहयोग के अपना जीवन निर्वाह नहीं कर सकता।

सबसे प्रथम तो उसे एक जीवन सहचरी की आवश्यकता है। उसके बाद कुछ उद्योग धन्धा या मेहनत मजदूरी करना जरूरी है। यदि वह उद्योग धन्धा करता है तो उसका संबंध अपने ग्राहकों और

व्यापारियों से रहेगा। अत. उसके व्यवसाय का असर या अपने व्यवसाय में वह जो नीति बरतेगा उसका असर उससे संबंध रखनेवाले व्यक्तियों पर अवश्य पड़ेगा। इसीलिये एक अहिंसक गृहस्थ के लिये सबसे प्रथम यह आज्ञा दी गई है कि वह न्यायपूर्वक अपनी जीविका उपार्जन करे और न्यायपूर्वक आजीविका करने के लिये उसे कुछ हिदायतें दी गई हैं जो इस प्रकार हैं —

१. उसे सन्तोषी होना चाहिये।
२. उसे उतना ही आरम्भ करना चाहिये जितना वह स्वयं कर सकता हो, अपनी शक्ति से बाहर उद्योग-धन्धा करना अनुचित है।
३. उसे अपने जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक धन, धान्य, जमीन, जायदाद वगैरह की एक सीमा निर्धारित कर लेनी चाहिये और उस सीमा को यदि शक्य हो तो घटाते जाना चाहिये, किन्तु लोभ में आकर बढ़ाना नहीं चाहिए।
४. जीवन के लिये आवश्यक सामग्री का अनुचित संग्रह नहीं करना चाहिए।
५. अपने आश्रितों को पहले खिलाकर तब पीछे स्वयं खाना चाहिये और उनसे शक्ति से अधिक काम नहीं लेना चाहिये।
६. धन संचय की भावना से राजकीय नियमों का उल्लंघन नहीं करना चाहिये।
७. कमती बढ़ती तोलना या नापना नहीं चाहिये।
८. मूल्यवान वस्तु में अल्प मूल्य वाली वस्तु मिलाकर नहीं बेचना चाहिये।
९. जाली सिक्के वगैरह नहीं चलाना चाहिये।

इन नियमों में प्रारम्भिक नियम आधार भूत हैं। मनुष्य का असन्तोष ही उसे अनुचित तरीके से धनोपार्जन करने के लिए प्रेरित करता है। और आवश्यक धन धान्य होते हुये भी मनुष्य अपने धन के बल पर बहुत से आदमियों को बाजार भाव से नौकर रख कर उनसे मनचाहा काम लेता है उसकी दृष्टि में न्याय-अन्याय का भेद नहीं रहता। और एकमात्र धन संचय ही उसके जीवन का उद्देश्य हो जाता है। इस तरह के आवश्यक संचयी धनलोलुप व्यक्तियों के कारण ही समाज में असन्तोष की आग भड़क उठती है और हिंसा का बाजार गर्म हो उठता है।

आज की अशान्ति का मूल कारण साम्राज्य लोलुपों और धन-लोलुपों का अनावश्यक संचय और उत्पीड़न ही है। जब तक वे अपनी इस प्यास को सन्तोषरूपी जल से बुझाने में असमर्थ हैं तब तक विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। या तो उनकी इस प्यास के कारण विश्व ही नष्ट हो जायेगा या फिर विश्व की अशान्ति के कारण वे ही नष्ट हो जाएंगे। दोनों का अधिक दिनों तक साथ-साथ चलना संभव प्रतीत नहीं होता।

अतः प्रत्येक अहिंसक गृहस्थ को ऊपर के नियमों का ध्यान रखकर अपनी जीविका उपार्जन करनी चाहिये। इसमें उसे कठिनाइयाँ उठानी पड़ सकती हैं। यह संभव है कि वह बेईमानी और फरेब से धन कमाने वालों की तरह धनी न हो सके क्योंकि शुद्ध धन से आनन्द-पूर्वक जीवन निर्वाह तो किया जा सकता है किन्तु अनावश्यक संग्रह नहीं किया जा सकता। ऐसा जैनाचार्यों का कथन है। यथा—

शुद्धैर्धनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥

—आत्मानुशासन

अर्थात्—सज्जनों की भी सम्पत्ति शुद्ध धन से नहीं बढ़ती। नदियाँ कभी भी स्वच्छ जल से परिपूर्ण नहीं होतीं।

फिर भी उसे आत्मिक शान्ति और सन्तोष का सच्चा भण्डार प्राप्त होगा और उससे जनता में फैलती हुई बुराइयों को रोकने में सहायता मिलेगी।

लोक गतानुगतिक हैं—दूसरों को जैसा करता हुआ देखते हैं वैसा ही करने लगते हैं। जब जनता में बुराई बढ़ जाती है तो अच्छे लोग भी उसके बहाव में आकर बुराई करने पर उतारू हो जाते हैं और फिर बुराई को रोकना कठिन हो जाता है। यदि कुछ लोग भी ऐसे अवसरों पर दृढ़ बने रहें तो उससे बुराई के रुकने में सहायता मिल सकती है। किन्तु सांसारिक प्रलोभनों का मायाजाल इन्द्रजाल की तरह ऐसा मोहक है कि कोई विरला ही उसमें फंसने से बच पाता है और जो बच जाता है वही अहिंसा का पालक और मार्गदर्शक बन सकता है।

अहिंसक उद्योग धन्धे

ऊपर के नियमों का ध्यान रखते हुए जो मनुष्य अपना जीवन

निर्वाह करना चाहता है उसके लिए उद्योग धन्धा भी ऐसा चुनना चाहिये जो अहिंसक हो—अर्थात् उसमें हिंसा न होती हो या हिंसा को उससे प्रोत्साहन न मिलता हो। उदाहरण के लिये खेती को ले लीजिए। खेती करने में कम हिंसा नहीं है। जब खेत जोता जाता है तो जमीन में बसने वाले बहुत से जीव जन्तु मर जाते हैं। फिर भी उस उद्योग को अहिंसक माना गया है क्योंकि खेतिहर का भाव जीव मारने का नहीं है किन्तु खेत जोतकर अन्न पैदा करने की ओर है। इसके विपरीत एक धीवर जो मछली मारकर ही आजीविका करता है, एक नदी में जाल डालकर बैठा हुआ है, उसके जाल में एक भी मछली नहीं आई है, फिर भी वह खेत जोतते हुए किसान से अधिक पापी है, क्योंकि उसका भाव मछली मारकर आजीविका करने में लगा है। कहा भी है—

> सा क्रिया कापि नास्तीह यस्यां हिंसा न विद्यते।
> विशिष्येते परं भावौ यत्र मुख्यानुषाङ्गिकौ॥
> अघ्नन्नपि भवेत्पापी निघ्नन्नपि न पापभाक्।
> अभिध्यान विशेषेण यथा धीवरकर्षकौ॥ —यशस्ति०

अर्थात्—ऐसा कोई काम नहीं है जिसमें हिंसा न होती हो। किन्तु उसमें मुख्य और गौण भावों का अन्तर है। जैसे संकल्प में अंतर होने से धीवर नहीं मारते हुए भी पापी है और किसान मारते हुए भी पापी नहीं है। यह कहा जा सकता है कि जिन लोगों का मछली मारना ही व्यवसाय है, वे क्या करें? इसके उत्तर में निवेदन है कि जीव हिंसा से आजीविका करना अहिंसक समाज के लिए उचित नहीं है। यह हम पहले लिख आये हैं कि इस तरह के पेशे मनुष्य को निर्दयी और कठोर बना देते हैं और उससे मानव समाज को क्षति पहुंचती है। फिर भी जैन शास्त्रों में ऐसे उदाहरण हैं जिससे यह प्रकट होता है कि जीवहत्या से आजीविका करने वालों को भी किस तरह अहिंसा का पाठ पढ़ाया जा सकता है। दो उदाहरण इस प्रकार है :—

१. एक मछलीमार जाल लिए नदी की ओर जाता था। रास्ते में उसकी भेंट एक साधु से हुई। साधु ने उसे धर्म का उपदेश दिया और उसे मछली मारने का व्यवसाय छोड़ देने की सलाह दी।

किन्तु मछलीमार ने अपनी असमर्थता प्रकट की। तब साधु ने उससे कहा कि तेरे जाल में जो पहली मछली आया करे उसे मत मारा कर। उसने यह स्वीकार किया और नदी की ओर चल दिया। उसके जाल में जो पहली मछली आई उसमें उसने पहचान के लिए धागा बाँधकर छोड़ दिया। दुबारा भी वही मछली आई, तिबारा भी चौथी बार भी। इतने में ही सन्ध्या हो गई और वह खाली हाथ घर लौट आया।

२. एकचाण्डाल था। उसका काम था राजा की आज्ञा से अपराधियों को सूली देना। एक साधु के दर्शन करके उसने अपने कल्याण का मार्ग पूछा। साधु ने कहा तुम जो व्यवसाय करते हो वह छोड़ दो। किन्तु उसने ऐसा करने में अपने को असमर्थ पाया तब साधु ने उसे यह प्रतिज्ञा लिवाई कि वह चतुर्दशो के दिन शूली देने का काम नहीं करेगा।

इसके बाद ही जैनियों का अष्टाह्निका पर्व आ गया। राजा ने आठ दिन के लिए राज्य भर में जीवहत्या न करने की आज्ञा दे दी। किन्तु राजपुत्र मांस का प्रेमी था उससे माँस खाये बिना रहा नहीं जाता था। उसने छिपकर एक मेढ़े को मार डाला बात प्रकट हो गई और वह पकड़ा गया। राजा ने उसे शूली पर चढ़ाने की आज्ञा दी। चाण्डाल को बुलाया गया। किन्तु उस दिन चतुर्दशी थी। अतः वह छिप गया और उसने अपनी पत्नी से कह दिया कि मुझे कोई बुलाने आये तो कह देना कि वह घर पर नहीं हैं।

राजा के आदमी उसे बुलाने गये तो उसकी पत्नी ने कह दिया कि वह तो घर पर नहीं हैं। राज पुरुष बोले—अरे वह बड़ा अभागा है। आज राजा के पुत्र को फाँसी लगने वाली है उसे राजपुत्र के लाखों रुपयों के वस्त्राभूषण मिलते।

यह सुनकर चाण्डालिन को लोभ हो आया और उसने संकेत से अपने छिपे हुए पति को बतला दिया। राजपुरुषों ने चाण्डाल को पकड़ लिया। वे उसे राजा के पास ले गये। किन्तु उसने चतुर्दशी के दिन सूली देना स्वीकार नहीं किया। राजा को क्रोध आ गया। उसने आज्ञा दी इस चाण्डाल को राजपुत्र के साथ मगरमच्छों से भरे हुए तालाब में डुबा दो। राजा की आज्ञा का पालन किया गया। राजपुत्र को तो

तुरन्त मगरमच्छ खा गये। किन्तु चाण्डाल को किसी ने नहीं खाया। वह बच गया। और फिर राजा-प्रजा सबने उसका सम्मान किया।

ऊपर के दो उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि हिंसकों को भी अहिंसा का पाठ किस तरह पढ़ाया जाता है। प्रारम्भिक उद्देश इतना ही रहता है कि मनुष्य हिंसा को हिंसा मानकर उसकी तरफ से अरुचि करने लगे। जहाँ मनुष्य में अरुचि उत्पन्न हो गई फिर वह अहिंसा की दिशा में स्वयं आगे बढ़ने की कोशिश करने लगता है।

जिन उद्योग-धन्धों में बाह्यरूप से हिंसा नहीं होती किन्तु संचालक का अभिप्राय अपने कर्मचारियों और ग्राहकों को उनकी परिस्थितियों से लाभ उठाकर अधिक से अधिक लेने और कम से कम देने का रहता है, उन्हें अहिंसक नहीं कहा जा सकता। अहिंसक व्यवसायी कभी किसी भी परिस्थिति से लाभ उठाकर धनवान बनने की कल्पना भी नहीं कर सकता। प्रत्येक स्थिति में वह सन्तुलित रहता है। बाजार में मनुष्यों की मन्दी होने पर भी वह उनको उतना ही देता है जितने से उनका जीवन निर्वाह बखूबी हो सके। ऐसे मालिक के कर्मचारी भी उसकी परिस्थितियों से बेजा लाभ उठाने की चेष्टा नहीं करते और उसकी कठिनाई में हाथ बटाते हैं।

सारांश यह है कि उद्योग-धन्धे व्यक्तिगत हों अथवा सामूहिक हों, उनके मालिकों की दृष्टि शोषण की न होकर जीवन निर्वाह की होनी चाहिए दूसरे शब्दों में उन्हें समाज से उतना ही लेना चाहिए जितना आवश्यक हो। बेजा तरीकों से आवश्यक द्रव्य संचय करने से एक ओर तो समाज चुसता जाता है और दूसरी ओर बेकार द्रव्य इकट्ठा होता जाता है। उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप एक ओर तो चूसी जाने वाली समाज में असन्तोष के साथ ही साथ चोरी वगैरह करने की प्रवृत्ति बढ़ती है, दूसरी ओर चूसने वाले के पास बेजा पैसा इकट्ठा होने से उसमें और उसकी सन्तान में विलासिता की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। और इस तरह दूसरों को सताकर एकत्र किया हुआ द्रव्य सन्तान को कुमार्गी बनाकर फिर जहाँ का तहाँ चला जाता है। अतः उसका अनावश्यक संचय न तो व्यक्ति के लिए हितकर है न उसकी सन्तान के लिए हितकर है और न समाज के लिए हितकर है।

अतः अहिंसक व्यक्ति को उससे बचना ही चाहिए। यदि मनुष्य किसी तरह अपनी अनावश्यक संचयवृत्ति पर नियंत्रण कर सके तो मानव समाज की बहुत सी कठिनाइयाँ दूर हो जावें। और उद्योग व्यवसाय की हिंसा भी बहुत कम हो जाये। एक बात और भी ध्यान देने की है। जीवन के लिए वस्त्र और अन्न ये दो वस्तुएं अत्यन्त आवश्यक हैं। इसमें भी वस्त्र से अधिक आवश्यक अन्न है क्योंकि वस्त्र के बिना मनुष्य जीवित रह सकता है किन्तु अन्न के बिना जीवित नहीं रह सकता। अतः दुर्भिक्ष के समय किसान, व्यापारी अथवा राज कर्मचारी अन्न का अनुचित संग्रह करके यदि जनता को भूखी मारते हैं और मनचाहा मूल्य वसूल करते हैं तो इससे अधिक हिंसक व्यापार दूसरा नहीं हो सकता। जब देश में अन्न की कमी हो तब एक अहिंसक के लिए केवल इतना ही आवश्यक नहीं है कि वह अन्न का अनुचित संग्रह न करे, बल्कि उसे अन्न का व्यय भी सावधानी पूर्वक कम से कम करके दूसरे मनुष्यों के लिए अन्न बचाने का प्रयत्न करना चाहिए। क्योंकि उसका तो यह व्रत होता है कि वह केवल स्वयं ही जीवित रहना नहीं चाहता, बल्कि दूसरों को जीवित रखकर स्वयं भी जीवित रहना चाहता है।

जहाँ तक शक्य हो, एक अहिंसक गृहस्थ अपने जीवनयापन के लिये दूसरों का जीवन विपत्ति में नहीं डाल सकता, इतना ही नहीं किन्तु विपत्ति में पड़े हुओं को देखकर वह चुप नहीं बैठ सकता। आज जो लोग अपने को अहिंसा धर्म का अनुयायी कहते हैं, असल में उन्होंने अहिंसा धर्म निवृत्ति रूप को तो थोड़ा बहुत पकड़ रखा है किन्तु उसके प्रवृत्ति रूप को वे भुला ही बैठे हैं। उन्होंने यह समझ लिया है कि अहिंसा का मतलब इतना ही है कि किसी की जान मत लो, या किसी को सताओ मत। फलतः वे किसी की जान नहीं लेते। साँप जैसे प्राणहारी जन्तु को भी वे बिना मारे जंगलों में ही छुड़वा देते हैं। लूले-लंगड़े बूढ़े पशु-पक्षियों की सुरक्षा के लिये लाखों रुपया खर्च करके उन्होंने जगह-जगह पिंजरापोल खुलवा रक्खे हैं। प्रतिदिन शिकारियों के द्वारा पकड़े गये जन्तुओं को पैसा देकर वे मुक्त करवाते रहते हैं। किसी खून के मामले में जूरी होते हैं तो खूनी को भी प्राणदान दिलाने की चेष्टा करते हैं। दुःखी दरिद्रों की यथाशक्ति साहाय्य भी करते

हैं—लाखों का दान भी करते हैं। सारांश यह कि धन देकर के दूसरों का कष्ट हरने की प्रवृत्ति भी उनमें है। किन्तु स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरों को कष्ट न पहुंचाने या जो कष्ट में पड़े हैं उनका कष्ट हरने की प्रवृत्ति उनमें नहीं है। वे उदारतापूर्वक दान दे सकते हैं किन्तु व्यापार में उदारता दिखाकर गरीबों का कष्ट दूर कर सकने की उदारता नहीं दिखा सकते। अन्न और वस्त्र में चोरबाजारी के द्वारा खूब द्रव्य उपार्जन करके उसमें से कुछ दान दे देना अहिंसा नहीं है ! चोरबाजारी न करके कुछ भी दान न दे सकना अवश्य अहिंसकता है।

अहिंसा और दण्डविधान

अब प्रश्न यह होता है कि जैनदृष्टि से एक अहिंसक गृहस्थ न्यायासन पर बैठकर अपराधी को दण्ड देने का कार्य कर सकता है या नहीं ? इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि प्रत्येक अहिंसक गृहस्थ वह सब काम कर सकता है जो समाज की सुरक्षा के लिए आवश्यक है तथा जिसके करने से नैतिक पतन नहीं होता। कुछ लोगों का यह ख्याल बंध गया है कि जैनी या अहिंसक बनने से मनुष्य राष्ट्र के काम का नहीं रहता और वह कायर और नपुंसक बन जाता है। किन्तु यह धारणा बिल्कुल गलत है। यद्यपि ऐसी धारणा होने का बहुत कुछ उत्तरदायित्व जैनों पर है। किन्तु है वह गलत ही।

यदि दुष्टों को उनके अपराध का दण्ड न दिया जाये तो उससे समाज में निरंकुशता फैल जायेगी और शिष्टों का रहना भी कठिन हो जायेगा। किसी समय जैनधर्म क्षत्रियों का धर्म था। उसके प्रवर्तक तीर्थंकर सब क्षत्रिय थे। जिनमें से अधिकांश ने अपने गार्हस्थिक जीवन में राज्य का पालन ही नहीं किया था किन्तु दिग्विजय भी की थी। प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के पुत्र सम्राट् भरत को तो अपने शासनकाल में अपराधियों के लिये फांसी तक की सजा चालू करनी पड़ी थी। किन्तु शक्ति या अधिकार का दुरुपयोग नहीं किया। सबका उद्देश्य 'प्रजा संरक्षण' था। प्रजा की संरक्षा के लिये जो आवश्यक होता था वह करते थे। अत: दण्ड विधान के सम्बन्ध में भी वे उसी उद्देश्य का पालन करते थे। दण्ड विधान की आवश्यकता तथा औचित्य बताते हुए लिखा है—

'दण्डो हि केवलो लोकमिमं चामुं च रक्षति।
राज्ञा शत्रौ च मित्रे च यथादोषं समधृतः ॥'

'इति वचनाद्अपराध कारिषु यथाविध प्रणेतृणामपि चक्रवर्त्या- दीनामणुव्रतादिधारणं पुराणादिषु च बहुशः श्रूयमाणं न विरुध्यते। आत्मीयपदवीशक्त्यनुसारेण तैः स्थूलहिंसादिविरतेः प्रतिज्ञानात्।'— सागार० टीका० पृ० २२६-२७। अर्थात्—राजा के द्वारा अपराध के अनुसार शत्रु और मित्र को समान रूप से दिया गया दण्ड इस लोक और परलोक की रक्षा करता है, ऐसा नीतिकारों का कथन है। अतः अपराधियों को नियमानुसार दण्ड देने वाले चक्रवर्ती आदि राजाओं के सम्बन्ध में जो पुराणों में यह सुना जाता है कि वे अणुव्रतधारी थे, सो उसमें कोई विरोध नहीं है क्योंकि उन्होंने अपनी पदवी और शक्ति के अनुसार स्थूल हिंसा वगैरह के त्याग की प्रतिज्ञा ली थी।

अतः अहिंसा का पालक गृहस्थ न्यायासन पर बैठकर अपराधी को दण्ड दे सकता है जैसे कि वैद्य रोगी को औषधी देता है। रोगी को औषधी देने से पहले वह रोग का निदान करता है। पीछे रोग को शान्त करने के लिये यथोचित अनुपान के साथ औषधि की व्यवस्था करता है। वैसे ही न्यायाधीश भी शत्रु-मित्र में भेद न करके अपराधी को दण्ड देने से पूर्व यह देखता है कि इसने किस परिस्थिति में अपराध किया है। पीछे दण्ड की व्यवस्था करता है। ऐसा करने से उसकी अहिंसकता में कोई हानि नहीं आती। किन्तु यदि वह न्यायासन पर बैठकर अपने शत्रु अपराधी को कठोर दण्ड देता है और मित्र अपराधी को मुक्त कर देता है या उन परिस्थितियों का विचार न करके दण्ड देता है जिसमें उसने अपराध किया है तो वह अवश्य अहिंसकपने से च्युत होता है। अतः सच्चे अहिंसक गृहस्थ को दण्ड विधान का कार्य करना अनुचित नहीं है। यह भी एक ऐसा लौकिक आरम्भ है जिसके बिना मनुष्य समाज का योगक्षेम नहीं चल सकता।

अहिंसा और आत्मरक्षा

मनुष्य के सामने जैसे जीवन निर्वाह का प्रश्न है वैसे ही आत्मा और आत्मीयों की रक्षा का भी प्रश्न है। जैसे जीवन निर्वाह के बिना काम नहीं चल सकता वैसे ही अपनी और आत्मीयों की रक्षा के लिये

तत्पर रहे बिना भी काम नहीं चल सकता। यह ठीक है कि एक अहिंसक गृहस्थ स्वयं किसी पर आक्रमण नहीं करेगा। किन्तु यदि कोई उस पर आक्रमण करता है या उसके बन्धु बान्धवों को सताता है, उसकी नारियों की बेइज्जती करता है तो वह ऐसे प्रसंगों पर अहिंसक होने के नाते न तो चुपचाप बैठ सकता है और न घर में घुस-कर अपनी जान बचा सकता है। उसका अहिंसा व्रत केवल इतना ही है कि वह स्वयं किसी को नहीं सतायेगा, नहीं मारेगा। किन्तु यदि कोई आततायी उस पर आक्रमण कर बैठे तो उससे रक्षा करना तो उसका कर्तव्य है। यदि वह अपने इस कर्तव्य का पालन नहीं करता और जीवन के मोह से घर में छिपकर बैठ जाता है और आततायियों को मनमाना अत्याचार करने देता है तो वह अहिंसक नहीं है, कायर है।

सच्चा अहिंसक कभी डरपोक हो ही नहीं सकता। भय तो स्वयं एक हिंसा है। जैन शास्त्रकारों ने लिखा है—

नापि स्पृष्टः सुदृष्टिर्यः सप्तभिर्भयैर्मनाक्।

अर्थात्—जो सच्चा जैन है उसे कभी भी सात प्रकार के भय छू नहीं सकते। अतः जब कोई आततायी उसपर, उसके आत्मीयों पर, उसके देश पर या उसके धर्मायतनों पर आक्रमण करे तो उसे एक सच्चे वीर सेनानी के रूप में उसका डटकर सामना करना चाहिये और अपने जीते जो उस आततायी को उसके कुकृत्य में सफल नहीं होने देना चाहिये।

जैसा कि लिखा है—

अर्थादन्यतमस्योच्चैरुद्दिष्टेषु स दृष्टिमान्।
सत्सु घोरोपसर्गेषु तत्परः स्यात्तदत्यये॥
यावान्ह्यात्मसामर्थ्यं यावन्मंत्रासिकोषकम्।
तावद् दृष्टुं च श्रोतुं च तद्बाधां सहते न सः॥

—पंचाध्यायी

अर्थात्—ऊपर कहे गये में से किसी के भी ऊपर घोर मुसीबत आने पर वह सम्यग्दृष्टि उसे दूर करने में तत्पर होता है। तथा जब तक उसमें शक्ति रहती है, मंत्र का, तलवार का और धन का बल

रहता है तब तक वह उस आये हुए संकट को न तो सुन ही सकता है और न देख ही सकता है।

सारांश यह है कि अहिंसा प्रेमी गृहस्थ स्वभाव से ही शान्त और शान्तिप्रिय होता है। वह किसी को सताना नहीं चाहता। वह जानता है कि जिस प्रकार मुझे अपने प्राण, अपनी स्त्री, अपना धन और अपनी जमीन-जायदाद प्रिय है उसी तरह दूसरों को भी प्रिय है। जैसे पीड़ा देने पर मुझे कष्ट होता है वैसे ही दूसरों को भी होता है। वह किसी के भी साथ जान बूझकर दुर्व्यवहार नहीं करता और सदा सबके कष्ट में सहायक रहता है। किन्तु यदि कोई व्यक्ति या समुदाय उसे सीधा सादा समझकर परेशान करने पर ही कमर बांध ले, या उसके धर्मस्थानों पर हमला कर दे, उसके मुहाल में किसी को लूटने लगे या उसके देश पर चढ़ाई कर दे तो वह स्वयं जहाँ तक सम्भव है अपने स्वाभिमान की रक्षा करते हुए शान्ति के साथ ही ऐसे प्रसंगों को दूर करने की चेष्टा करेगा। किन्तु यदि सफलता न मिले और दुश्मन अपनी आदत से बाज न आये तो फिर शस्त्रबल से उसका सामना करके यदि संभव हो तो उसकी जान लिये बिना ही उसे परास्त करने की चेष्टा करेगा। उस समय उसका एकमात्र उद्देश्य आत्मा और आत्मीयों की रक्षा करना ही होगा। वैसा करते हुए यदि किसी का वध भी हो जाये तो उसके लिये वह क्षम्य ही कहलायेगा। इसीलिए कहा है—

यः शस्त्रवृत्तिः समरे रिपुः स्यात् यः कण्टको वा निजमण्डलस्य।
अस्त्राणि तत्रैव नृपः क्षिपन्ति न क्षीणकानीनशुभाशयेषु॥

अर्थात्—जो शस्त्रोपजीवी समरांगण में शत्रु होकर आये, या जो अपने देश का कण्टक हो राजा लोग उसी पर अस्त्र प्रहार करते हैं, दुर्बलों, अकिंचित्करों और सज्जनों पर नहीं।

जो बात राजन्य वर्ग के लिए है वही बात उक्त परिस्थिति में प्रत्येक अहिंसा प्रेमी वर्ग के लिये है। अतः अहिंसा पर निष्क्रियता का या कायरता का लांछन नहीं लगाया जा सकता जो ऐसा लांछन लगाते हैं वे अहिंसा की शक्ति को जानते नहीं। भगवद्गीता में श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को जो उपदेश दिलाया गया है, उसकी चर्चा पूर्व प्रकरण में कर आये हैं और इस मत की अंगिरस ऋषि ने श्रीकृष्ण को अहिंसा का उपदेश दिया था, आलोचना भी कर आये हैं।

अर्जुन ने कुरुक्षेत्र के मैदान में अपने सगे सम्बन्धियों को सम्मुख युद्ध करने के लिये उपस्थित देखकर जब लड़ने से इंकार कर दिया तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन के इस मार्ग को 'अनार्यजुष्ट' बतलाकर उसकी बहुत भर्त्सना की। जब अर्जुन नहीं माना तो आत्मा के अमरत्व की दुहाई देकर उसे यह समझाना चाहा कि न तो आत्मा मरता है और न किसी को मारता है। जैसे वस्त्र के पुराने पड़ जाने पर हम उसे बदल डालते हैं वैसे ही आत्मा भी एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर धारण कर लेता है।

एक बार किसी लेखक ने यह लिखने का कष्ट किया था कि अर्जुन ने जो मार्ग अपनाया वह अनार्यों यानी जैनों और बौद्धों का मार्ग है। लेखक ने तो 'अनार्य' शब्द को ही हीन और निन्दापरक मानकर ही उससे जैनों और बौद्धों का ग्रहण किया था। आज भी ऐसे आर्यत्वाभिमानी गीताभक्त हैं जो अहिंसा को अनार्यों का धर्म मानते हैं। ऐसे ही लोगों की भ्रांति के फलस्वरूप महात्मा गांधी जैसे गीताभक्त अहिंसा के पुजारी को गोली का शिकार बनना पड़ा।

हमारा तो यही विश्वास है कि जैन धर्म अनार्यधर्म है, भारत आदिवासी द्रविणों का धर्म है और उसी की देन अहिंसा है। किन्तु यहाँ इस विवाद में न पड़कर हमारा इतना ही कहना है कि अर्जुन का कार्य यदि एक आर्य के अनुकूल नहीं था तो अनार्यों—जैन-बौद्धों के भी अनुकूल नहीं था। गीता के उस प्रकरण को ध्यानपूर्वक देखने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अर्जुन युद्धस्थल में पहुंचकर भी युद्ध से इसलिये विरत नहीं हुआ कि उसके चित्त में अहिंसा की ज्योति जगी थी। बल्कि युद्ध में उपस्थित स्वजनों के मोह वश वह युद्ध से विरत होना चाहता[1] था। क्योंकि स्वजनों को मारकर, कुल का क्षय करना उसे अभीष्ट नहीं था। यदि युद्ध में लड़ने वाले उसके सगे सम्बन्धी और इष्टमित्र न होते तो अर्जुन युद्ध से विरत न होता। क्योंकि सबसे पहले उसने यही जानना चाहा कि मुझे किनके साथ लड़ना[2] है।

---

१. दृष्ट्वेवं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।
न च श्रेयो नु पश्यामि दृष्ट्वा स्वजनमाहवे।

२. कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यते ॥

अहिंसा के अनुयायी यदि युद्ध भी लड़ते हैं तो कैसे लड़ते हैं और उन्हें युद्ध से विराग भी होता है तो कैसे होता है इसका सजीव वर्णन पुराणों और चरितग्रन्थों में देखा जा सकता है। एक उदाहरण यहाँ दिया जाता है —

जैन धर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान ऋषभदेव के बड़े पुत्र का नाम भरत था। जब भगवान् ऋषभदेव अपने सब पुत्रों को यथोचित राज्य देकर प्रव्रजित हो गये तो बड़ा पुत्र भरत दिग्विजय करने के लिये निकला। भरत क्षेत्र के सब राजाओं को जीतकर जब वे अयोध्या नगरी में प्रवेश करने लगे तो उनका चक्ररत्न रुक गया। निमित्तज्ञों ने बतलाया कि अभी कोई व्यक्ति ऐसा शेष है जो आपकी राजाज्ञा को नहीं मानता। इसी से चक्र राजधानी में जाने से रुक गया है। मंत्रियों के परामर्श से मालूम हुआ कि भरत सम्राट् के छोटे भाई बाहुबलि ने अभी उनका शासनादेश स्वीकार नहीं किया है। तुरन्त दूत भेजा गया दूत ने पोदनपुर जाकर अपने स्वामी की आज्ञा बाहुवलि को सुनाई।

बाहुवलि ने दूत से कहला दिया कि जैसे भरत भगवान ऋषभदेव के पुत्र हैं वैसे ही मैं भी उनका पुत्र हूं। और उनके द्वारा प्रदत्त राज्य का उपभोग करता हूं। बड़े भाई के नाते वे मेरे वन्दनीय हैं किन्तु तलवार का भय दिखाकर प्रणाम कराना कहाँ तक उचित है। सर्वस्व त्यागी मुनि जन भी जब समानता के इच्छुक रहते हैं तब कौन राजा समानता को छोड़ना चाहेगा। वन में जाकर बसना उचित है, मर जाना भी उचित है किन्तु कुलाभिमानी के लिये किसी की अधीनता स्वीकार करना उचित नहीं। दूसरा उपाय न देखकर भरत ने पोदनपुर पर चढ़ाई कर दी। बाहुबलि भी अपनी चतुरंगिणी सेना लेकर नगर से निकल पड़े। दोनों पक्ष की सेनाएं आमने-सामने डट गईं। तब मंत्रियों ने विचार किया कि यह भाई-भाई का युद्ध है। इसमें व्यर्थ जनक्षय कराने से कुछ लाभ न होगा। दोनों भाई ही परस्पर में अपने-अपने बल की परीक्षा क्यों न कर लें। यह विचार सबको पसन्द आया और जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और बाहुयुद्ध के द्वारा जय-पराजय का निर्णय होना तय हुआ। तीनों ही युद्धों में भरत हार गए और बाहुवलि ने उन्हें अपने हाथ पर उठा लिया। इस पराजय से क्रुद्ध होकर भरत ने बाहुवलि पर अपना चक्र चलाया किन्तु वह भी

बाहुबलि का कुछ न कर सका। दोनों पक्षों के राजाओं ने बाहुबलि का सन्मान किया और उनकी जय-जयकार से आकाश गूंज उठा।

किन्तु बाहुबलि को इस घटना ने राज्य से विरक्त कर दिया। उन्होंने सोचा कि जिस राज्य के लिये बड़ा भाई भी ऐसा अनुचित कार्य कर सकता है उसे धिक्कार है। और जहाँ सम्राट् का भी मान भंग होता हो वहाँ दूसरों की बात ही क्या है। ऐसा सोच कर राज-पाट छोड़कर बाहुबलि प्रव्रजित हो गये और आत्मध्यान में लीन होकर उन्होंने निर्वाण लाभ किया।

अहिंसा और वीरता

वास्तव में बाहरी शत्रुओं की अपेक्षा आन्तरिक शत्रुओं को जीतना बहुत कठिन है। जंगल में जाकर बाहरी शत्रुओं से छुटकारा भले ही मिल जाये किन्तु आन्तरिक शत्रु तो वहाँ भी पीछा नहीं छोड़ते बल्कि एकान्त पाकर वे और भी अधिक उपद्रव मचाते हैं। अतः जो बाहरी शत्रुओं के भय से जंगल का मार्ग अपनाता है वह आन्तरिक शत्रुओं को कैसे जीत सकता है। अतः सच्चा अहिंसक कभी डरपोक हो ही नहीं सकता। अहिंसा का तो पहला पाठ ही निर्भयता है। निर्भयता और कायरता एक ही स्थान पर नहीं रह सकतीं।

महात्मा गांधी के शब्दों में शौर्य एक आत्मिक गुण है। या यों कहें कि आत्मिक तेज और सामर्थ्य के प्रकाशन का नाम ही शौर्य है। वह दो तरह से प्रकट किया जाता है—आत्मा के द्वारा और शरीर के द्वारा। जब वह आत्मा के द्वारा प्रकट किया जाता है तब वह अहिंसा कहलाता है और जब शरीर से प्रकट किया जाता है तब वीरता। वीरता का प्रयोग जब किसी को दुःख या हानि पहुंचाने के लिये किया जाता है तब वह वीरता नहीं रहती। तब ही उसका नाम हिंसा हो जाता है। कायरता से तो हिंसा भली। क्योंकि हिंसा क्या ? विकृत वीरता ही तो हिंसा है। वह तो कायरता से हजारगुनी अच्छी है। उसमें देह का मोह और स्वार्थ इतना नहीं है। फिर भी हिंसा कभी भी श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती। उसमें इतनी ही भलाई है कि वह कायरता से उच्च है। अतः कायरता से हिंसा भली किन्तु हिंसा से वीरता श्रेष्ठ है, और वीरता से भी श्रेष्ठ अहिंसा है। जो अहिंसा का पालन करने में असमर्थ हैं उनके लिये वीरता का मार्ग खुला हुआ है।

किन्तु आज के युग में जो युद्ध लड़े जाते हैं वे वीरों के युद्ध नहीं हैं। प्राचीन भारतीय युद्धों में वीर से वीर जूझते थे। निहत्थे सैनिक पर भी हाथ नहीं उठाते थे। स्त्री-बच्चों की तो बात ही क्या है ? उस समय का युद्ध-कौशल न्यायपूर्वक शारीरिक शक्ति के प्रदर्शन में ही सन्निहित था। वीर योद्धाओं की प्रशंसा शत्रु पक्ष भी करने से नहीं चूकता था। किन्तु आज के वैज्ञानिक युद्धों में उचित और अनुचित का कोई विचार नहीं किया जाता। शारीरिक वीरता की अपेक्षा बौद्धिक चतुराई का बोलबाला है। स्त्री, बच्चे, रोगी निरोगी का भी कोई विचार नहीं किया जाता। ऐसे ऐसे संहारक बम तैयार किये जाते हैं जिनके फैंकने से नगर के नगर क्षणभर में वीरान हो सकते हैं। झूठ, फरेब, जालसाजी, मिथ्याप्रचार वगैरह की कोई सीमा नहीं है। पराजित देश के स्त्री-बच्चों पर अत्याचार किये जाते हैं उनको सुनने के लिए भी पत्थर का दिल चाहिये।

ऐसे विनाशकारी युद्ध यदि न रोके गये तो विश्व का विनाश निश्चित है। आमतौर पर सर्वसाधारण का यही विश्वास है कि युद्ध द्वारा ही युद्धों से शान्ति मिल सकती है। क्योंकि युद्ध से बचने का अन्य कोई उपाय उन्हें सूझता ही नहीं। किन्तु अब तक का अनुभव तो यही बतलाता है कि शान्ति युद्ध नहीं है, क्योंकि दो महायुद्ध हो चुकने पर भी शान्ति नहीं हुई, बल्कि अशान्ति और भी अधिक बढ़ी है और युद्धों का रूप उग्र से उग्रतर तथा संहारक से संहारकतर होता जाता है। फिर भी राष्ट्रनायकों की आँखें नहीं खुलती। वे युद्धों के मूल कारणों को दूर न करके युद्धों से युद्ध को बन्द करना चाहते हैं। किन्तु बिना मूलकारणों के दूर हुए ऐसा होना सम्भव नहीं है। सबसे प्रथम तो पारस्परिक अविश्वास और भय की भावना का मूलोच्छेद होना आवश्यक है। और उसके लिये कुछ शक्तिशाली मध्यस्थ राष्ट्रों को बीच में पड़कर दोनों ओर से की जाने वाली युद्ध की छिपी तैयारियाँ रोक देना जरूरी है। यद्यपि ये दोनों कार्य परस्पर में इतने सम्बद्ध हैं कि इन्हें अलग-अलग नहीं किया जा सकता, फिर भी इनको दूर किए बिना उक्त कार्य में प्रगति नहीं हो सकती।

पिछले महायुद्ध के समय म० गांधी ने अपने अटूट विश्वास

और अविचल श्रद्धा के आधार पर युद्धरत राष्ट्रों से यह अपील की थी कि वे युद्धों के मुकाबले अहिंसात्मक सत्याग्रह का मार्ग अपनाएं। किन्तु कुछ फल नहीं हुआ, हो भी नहीं सकता था क्योंकि हिंसक युद्ध के सामने अहिंसक युद्ध की बात विश्व के लिए एकदम नई थी। फिर भी इतना तो सुनिश्चित है कि अहिंसा का मार्ग अपनाये बिना विश्व में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। आज के बड़े राष्ट्रों में हिंसा का बोलबाला है—अविश्वास, भय, दम्भ, शोषण बेईमानी ये सब हिंसा के ही भाई बन्धु हैं। इनके रहते हुए युद्धों से शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न वैसा ही है जैसे कोई घाम की गर्मी से बचने के लिए आग में गिर पड़े।

जैसे आग में गिरने से घाम की तपन शान्त नहीं हो सकती वैसे ही युद्धों के द्वारा भी शान्ति स्थापित नहीं हो सकती, क्योंकि खून को खून से नहीं धोया जा सकता। उससे तो वह और भी गाढ़ा होता जाता है। खून को धोने के लिए तो पानी ही चाहिए वह पानी अहिंसा ही है। जिस दिन भी विश्व के राष्ट्र एकमत होकर व्यवहार में उसे अपना लेंगे उसी दिन से विश्व में शान्ति समीर के झोंके आने शुरू हो जायंगे। अन्यथा महाशान्ति के आने में तो कुछ विलम्ब है ही नहीं।

जैनी अहिंसा के मूल सिद्धान्त

पाठकों की जानकारी के लिए जैनी अहिंसा के मूल सिद्धान्त संक्षेप में नीचे दिये जाते हैं—

१. कषाय के योग से द्रव्य प्राण और भाव प्राण के घात करने का नाम हिंसा है।
२. आत्मा में राग-द्वेष वगैरह का उत्पन्न न होना अहिंसा है और उनका उत्पन्न होना हिंसा है।
३. जो मनुष्य सावधानतापूर्वक अपना कार्य करता है और जिसके चित्त में भी राग-द्वेष नहीं है उसके द्वारा किसी का घात हो जाने पर भी हिंसा नहीं कहलाती।
४. किन्तु जो मनुष्य अपने कार्य में असावधान है, प्रमादी है, राग-द्वेष से युक्त है उसके द्वारा किसी का घात हो या न हो, वह नियम से हिंसक है।

५. इसका कारण यह है कि जो प्रमादी है, दूसरों की ओर से असावधान है या दूसरों का बुरा सोचता है, वह सबसे प्रथम अपना ही घात करता है दूसरे प्राणियों का घात तो बाद की बात है, वह हो, न भी हो।

६. हिंसा से विरत न होना और हिंसा रूप परिणाम करना भी हिंसा ही है। अतः जो प्रमादी है वह सदा हिंसक है।

७. मात्र दूसरे के प्राणों के घात के निमित्त से थोड़ी सी भी हिंसा नहीं होती। अतः हिंसा से बचने के लिए अपने परिणामों को विशुद्ध रखना आवश्यक है और परिणामों को विशुद्ध रखने के लिए प्राणों का घात वगैरह करने से बचना आवश्यक है।

८. एक मनुष्य हिंसा न करके भी हिंसक हो जाता है और दूसरा मनुष्य हिंसा करके भी हिंसक नहीं होता।

९. एक की थोड़ी भी हिंसा बहुत फल देती है और दूसरे की बड़ी भारी हिंसा भी थोड़ा फल देती है।

१०. वही हिंसा एक को तीव्र फल देती है तो दूसरे को मन्द फल देती है।

११. परिणामों की विचित्रता होने से किसी को हिंसा न करने पर भी हिंसा का फल मिलता है और किसी ने हिंसा करने का विचार किया किन्तु कर नहीं पाया तो भी उसे हिंसा का फल भोगना होता है।

१२. एक आदमी हिंसा करता है और उसका फल बहुतों को भोगना पड़ता है। तथा बहुत से आदमी हिंसा करते हैं और उसका फल एक भोगता है।

१३. एक को थोड़ी सी भी हिंसा बहुत फल देती है और दूसरे की बड़ी भारी हिंसा भी थोड़ा फल देती है।

१४. किसी की अहिंसा हिंसा का फल देती है और किसी की हिंसा अहिंसा का फल देती है।

इस प्रकार जैन धर्म में हिंसा और अहिंसा का विवेचन अनेक भेद-प्रभेदों से जटिल है। और इसका कारण यह है कि जैन धर्म में हिंसा और अहिंसा कर्ता के भावों पर निर्भर है कर्ता की क्रिया के परिणाम पर निर्भर नहीं है। कर्ता की प्रत्येक मनोविकृति हिंसा

है और मनोविकारों का अभाव ही अहिंसा है। जैसा कि कहा है—

> रागादीणमणुप्पा अहिंसकत्तेति भासिदं समए।
> तेसिं चेवुप्पत्ती हिंसेति जिणेहि णिद्दिट्ठा ॥

अर्थात्—जैन आगम में रागादिक विकारों के उत्पन्न न होने को अहिंसा कहा है और उनकी उत्पत्ति को हिंसा कहा है।

अहिंसा की यह उच्च भावना जैन धर्म की एक मौलिक देन है। जो व्यक्ति को निर्विकार बनाकर हिंसा की जड़ पर ही कुठाराघात करती है तथा समाज को अहिंसक बनने की प्रेरणा देती है।

अनेकान्त

प्रारम्भ में ही कहा है कि जैन आचार और विचार का मूल अहिंसा है। यहाँ तक अहिंसा मूलक आचार का कथन किया। अब विचार की ओर आते हैं। जैन दृष्टि से प्रत्येक वस्तु स्वतः स्वभाव से ही परिणमनशील है। किन्तु वह परिणमन ऐसा नहीं होता कि वस्तु का सर्वथा विनाश हो जाये या एक तत्व बदलकर दूसरे तत्व रूप हो जाये। दर्शनशास्त्र का एक सामान्य नियम है—सत् का सर्वथा विनाश नहीं होता और सर्वथा असत् का उत्पाद नहीं होता। फिर भी वस्तु में प्रति समय उत्पाद-विनाश हुआ करता है।

जैनागम के अनुसार भगवान महावीर के मुख से जो प्रथम वाक्य निसृत हुआ, वह था—'उप्पन्नेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा' अर्थात् प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, नष्ट होती है और ध्रुव होती है। इसे जैन दर्शन में उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य कहते हैं। ये तीनों प्रत्येक वस्तु में प्रति समय सदा हुआ करते हैं। तभी वस्तु सत् होती है। अतः जैन दर्शन में सत् का लक्षण ही उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य है। इसी से तत्वार्थ सूत्र में कहा है—'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्।'

उदाहरण के लिये—जब कुम्हार चाक घुमाकर मिट्टी का बरतन बनाता है तो प्रति समय मिट्टी की पुरानी दशा नष्ट होकर नई दशा उत्पन्न होती है और मिट्टी रूप अवस्था ध्रुव रहती है। पुरानी दशा के नष्ट होने और नई दशा के उत्पन्न होने में काल भेद नहीं है, पुरानी दशा का विनाश ही नई दशा का उत्पादन है।

विनाश के बिना उत्पाद नहीं। उत्पाद के बिना विनाश नहीं, और ध्रौव्य के विना उत्पाद विनाश नहीं तथा उत्पादन विनाश के बिना ध्रौव्य नहीं। अतः जो उत्पाद है वही विनाश है। जो विनाश है वही उत्पाद है, जो उत्पाद विनाश है वही ध्रौव्य है और जो ध्रौव्य है वही उत्पाद विनाश है। जैसे घड़े की उत्पत्ति ही मिट्टी की पिण्ड अवस्था का विनाश है क्योंकि भाव भावान्तर के अभाव रूप से अवभासित होता है। जो मिट्टी के पिण्ड का विनाश है वही घट का उत्पाद है क्योंकि अभाव भावान्तर के भावरूप से अवभासित होता है। तथा जो घट का उत्पाद और मिट्टी के पिण्ड का विनाश है वही मिट्टी की ध्रुवता है क्योंकि अन्वय का प्रकाशन व्यतिरेक मुख से ही होता है। तथा जो मिट्टी की ध्रुवता है वही घट का उत्पादन और मिट्टी के पिण्ड का विनाश है क्योंकि व्यतिरेक अन्वय का अतिक्रमण नहीं करता।

यदि ऐसा न माना जाये तो उत्पाद भिन्न, विनाश भिन्न और ध्रौव्य भिन्न ठहरता है। ऐसी स्थिति में केवल घट का उत्पाद कोई चाहे तो घट उत्पन्न नहीं हो सकता क्योंकि मिट्टी के पिण्ड का विनाश हुए बिना घट उत्पन्न नही होता। यही उसका कारण है। उसके बिना तो असत् का उत्पाद मानना होगा और तब आकाश के फूल जैसे असम्भव वस्तुओं का भी उत्पाद होगा। तथा केवल विनाश चाहने पर मिट्टी के पिण्ड का विनाश नहीं होगा क्योंकि आगामी पर्याय के उत्पादन के बिना पूर्वपर्याय का विनाश नहीं होता। यदि ऐसा हो तो सत् का विनाश मानना होगा।

पूर्वपर्याय से युक्त द्रव्य उपादान कारण होता है और उत्तर-पर्याय से युक्त वही द्रव्य उपादेय कार्य होता है। आप्तमीमांसा में कहा है—

'कार्योत्पादः क्षयो हेतोर्नियमात् लक्षणात् पृथक्।'

उपादान का पूर्व आकार रूप से विनाश कार्य का उत्पाद है क्योंकि जो कार्य के उत्पाद का कारण है वही पूर्व आकार के विनाश का कारण है। इस प्रकार पूर्वपर्याय उत्तरपर्याय का कारण होती है। और उत्तर पर्याय पूर्व पर्याय का कार्य होती है। इस तरह वस्तु के पूर्व और उत्तर परिणाम को लेकर तीनों कालों के प्रत्येक समय में कार्यकारण भाव हुआ करता है। जो पर्याय अपनी पूर्व पर्याय का कार्य

होती है वही पर्याय अपनी उत्तर पर्याय का कारण होती है। इस तरह प्रत्येक द्रव्य स्वयं ही अपना कारण और स्वयं ही अपना कार्य होता है। कार्यकारण की यह परम्परा प्रत्येक द्रव्य में सदा प्रवर्तित रहती है। उनका अन्त नहीं होता। अतः वस्तु को द्रव्यपर्यायात्मक कहा है क्योंकि द्रव्य के बिना पर्याय नहीं और पर्याय के बिना द्रव्य नहीं होता, जैसे उत्पाद व्यय के बिना ध्रौव्य और ध्रौव्य के बिना उत्पाद व्यय नहीं होते। उत्पाद व्यय पर्याय या परिणमन का सूचक है और ध्रौव्य स्थिरता या द्रव्यरूपता का सूचक है।

द्रव्य स्वरूप से सत् है और पररूप से असत् है। न वह सर्वथा सत् ही है और न वह सर्वथा असत् ही है। यदि प्रत्येक वस्तु को सर्वथा सत् माना जाय तो सब वस्तुओं के सर्वथा सत् होने से उनमें जो भेद है उसका लोप हो जायेगा और उसके लोप होने से सब वस्तुएं परस्पर में एक हो जायेंगी। उदाहरण के लिए घट और पट ये दो वस्तु हैं। जब हम किसी से घट लाने को कहते हैं तो वह घट ही लाता है पट नहीं लाता, और जब पट लाने को कहते हैं तो पट ही लाता है घट नही लाता। इससे सिद्ध है घट घट ही है और पट पट ही है। न घट पट है और न पट घट है। अतः घट घट रूप से है और पट रूप से नहीं है। इसी को दार्शनिक भाषा में कहते हैं घट है और नहीं है। उसका विश्लेषण होता है घट घट रूप से है पट रूप से नहीं है और पट पट रूप से है घट रूप से नही है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु स्व-रूप से है और पर रूप से नहीं है। अतः संसार में जो सत् है वह किसी अपेक्षा असत् भी है। सर्वथा सत् या सर्वथा असत् कोई वस्तु नहीं है। अतः एक ही समय में द्रव्य सत् भी है और असत् भी ह। स्व-रूप से सत् है और पर रूप से असत् है।

इसी तरह एक ही समय में वस्तु नित्य भी है और अनित्य भी है। द्रव्य की अपेक्षा नित्य है क्योंकि द्रव्य रूप का नाश नहीं होता और पर्याय की अपेक्षा अनित्य है क्योंकि पर्याय विनाशशील है। विश्व के दार्शनिकों की भी दृष्टि में आकाश नित्य है और दीपक क्षणिक हैं। किन्तु जैन दृष्टि से दीपक से लेकर आकाश द्रव्य तक सम-स्वभावी है। द्रव्य रूप से दीपक भी नित्य है और पर्याय रूप से आकाश भी क्षणिक है।

इसी तरह एक ही समय में वस्तु एक भी है और अनेक भी है। पर्याय की अपेक्षा अनेक है क्योंकि वस्तु प्रति समय परिणमनशील है और द्रव्य रूप से वस्तु एक है। तथा एक ही समय में वस्तुभेद रूप भी है और अभेद रूप भी है। द्रव्य रूप से अभेद रूप है और गुणों तथा पर्यायों के भेद से भेद रूप है। इस तरह वस्तु परस्पर में विरुद्ध प्रतीत होने वाले अनेक धर्मात्मक होने से अनेकान्तात्मक है। अन्त शब्द धर्म-वाचक है। यों तो सभी दार्शनिक वस्तु में अनेक धर्म मानते हैं। केवल एक ही धर्म वाली कोई वस्तु नहीं है। किन्तु जैन दर्शन अपेक्षा भेद या दृष्टि भेद से एक ही वस्तु में अनेक धर्म मानता है जो परस्पर में विरुद्ध जैसे प्रतीत होते हैं—जैसे सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, भेद-अभेद आदि। आचार्य समन्तभद्र ने अपने आप्त-मीमांसा प्रकरण में और आचार्य सिद्धसेन ने अपने सन्मति प्रकरण में इसकी व्यवस्था-पना की है।

अकलंक देव ने अपनी अष्टशती में कहा है—

"सदसन्नित्यानित्यादिसर्वथैकान्तप्रतिक्षेपलक्षणो अनेकान्त:।"
सर्वथा सत, सर्वथा असत्, सर्वथा नित्य, सर्वथा अनित्य इत्यादि सर्वथा एकान्त का प्रतिक्षेप लक्षण वाले अनेकान्त हैं अर्थात् सर्वथा एकान्त का निषेधक है किन्तु अपेक्षा भेद से एकान्त को स्वीकार करता है। यदि एकान्त को सर्वथा न माना जाये तो अनेकान्त भी नहीं बन सकता क्योंकि एकान्तों का समूह ही तो अनेकान्त है। कहा है—

'एयंतो एयणओ होइ अणेयंत तस्स समूहो'

— नयचक्र १८०।

एक दृष्टि को एकान्त कहते हैं और उसका समूह अनेकान्त है। अनेकान्त को समझाने के लिये शास्त्रकारों ने दो लौकिक दृष्टान्त दिये हैं। एक ही पुरुष में पिता, पुत्र, पौत्र, भानजे, भाई आदि अनेक संबंध होते हैं। एक ही समय में वह पिता भी होता है और पुत्र भी। एक का पिता और पुत्र होना परस्पर विरुद्ध जैसा लगता है किन्तु वह अपने पिता का पुत्र और अपने पुत्र का पिता है, अतः एक का पिता होने से वह सबका पिता या पुत्र नहीं होता। और न इन बहुत सम्बन्धों का पुरुष के एकत्व के साथ विरोध है। इसी तरह अस्तित्व-नास्तित्व आदि धर्म भी एक वस्तु में निर्विरोध रहते हैं।

दूसरा दृष्टान्त दिया है अन्धों और हाथी का। कुछ अंधे एक ही हाथी के एक-एक अंग को स्पर्श द्वारा जानकर अपने जाने हुये हाथी के एक अंग को ही हाथी मानकर परस्पर में झगड़ते हैं। तब एक दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति जिसने पूरा हाथी देखा है उन्हें समझाता है कि तुमने हाथा का एक-एक अंग देखा है, वह असत्य नहीं है। हाथी की सूंड लट्ठ सरीखी होती है अतः हाथी वैसा भी है। उसके पैर स्तम्भ जैसे होते हैं अतः हाथी स्तम्भ जैसा भी है। इस तरह वह सबका समन्वय करके पूर्ण हाथी उन्हें बतला देता है। इसी तरह वस्तु के सब धर्मों का दर्शन अनेकान्त है और एक धर्म का दर्शन एकान्त है। यदि वह एकान्त अन्य धर्मों का निषेध करके उनकी सापेक्षता स्वीकार करता है तब वह एकान्त सम्यक् है और यदि वह अपने को ही सम्यक् मानता है और अन्य एकान्तों को असत्य ठहराता है तो वह एकान्त मिथ्या है। अनेकान्तवादी जैन दर्शन सम्यक् एकान्तों को स्वीकार करता है किन्तु मिथ्या एकान्तों का खण्डन करता है।

एक अनेकात्मक होता है यह प्रायः अन्य दर्शनों ने भी माना है। सांख्य दर्शन में सत्व, रज और तम की साम्यावस्था को प्रधान कहा है। सत्वगुण का स्वभाव प्रसाद और लाघव है। रजोगुण का स्वभाव शोष और ताप है। तमोगुण का स्वभाव आवरण और छादन है। इस प्रकार इन भिन्न स्वभाव वाले गुणों का न तो परस्पर में विरोध है और न प्रधान रूप से विरोध है क्योंकि सांख्य दर्शन में कहा है कि इन गुणों से भिन्न कोई अलग प्रधान नहीं है किन्तु साम्य अवस्था को प्राप्त वे ही गुण प्रधान नाम से कहे जाते हैं। अतः प्रधान के अवयव रूपगुणों का और उनके समुदाय रूप प्रधान का परस्पर में कोई विरोध नहीं है।

वैशेषिक दर्शन में सामान्य को अनुवृत्ति रूप और विशेष को व्यावृत्ति रूप माना गया है। किन्तु पृथिवीत्व आदि को सामान्य विशेष रूप स्वीकार किया है एक ही पृथिवीत्व अपने भेदों में अनुगत होने से सामान्य रूप और जलादि से व्यावृत्ति कराने से विशेषरूप माना गया है, इसी से उसे सामान्य विशेष कहा गया है।

विज्ञानाद्वैतवादी एक ही विज्ञान को ग्राह्याकार, ग्राहकाकार और संवेदनाकार इस प्रकार तीन आकार रूप स्वीकार करते हैं।

तथा सभी दार्शनिक पूर्व अवस्था को कारण और उत्तर अवस्था को कार्य स्वीकार करते हैं। अत: एक ही पदार्थ में अपनी पूर्व और उत्तर पर्याय की दृष्टि से कारण और कार्य का व्यवहार निर्विरोध होता है। उसी तरह सभी पदार्थ विभिन्न अपेक्षाओं से अनेक धर्मावलम्बी होते हैं। इसे ही अनेकान्त कहते हैं।

इस अनेकान्तवाद का खण्डन बादरायण के सूत्र "नैकस्मिन्न-संभवात्" (२।५।३३) में मिलता है। इसकी व्याख्या में स्वामी शंकराचार्य ने अनेकान्तवाद पर जो सबसे बड़ा दूषण दिया है वह है 'अनिश्चितता'। उनका कहना है कि 'वस्तु है और नहीं भी है' ऐसा कहना अनिश्चितता को बतलाता है और अनिश्चितता संशय को पैदा करती है। किन्तु ऊपर स्पष्ट किया गया है कि वस्तु स्वरूप से सत् है और पर रूप से असत् हैं। यह निश्चित है—इसमें अनिश्चितता को स्थान नहीं है। देवदत्त पिता भी है और पुत्र भी है, इसमें जैसे कोई अनिश्चितता नहीं है क्योंकि वह अपने पुत्र की अपेक्षा पिता और अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, उसी तरह वस्तु सत् भी है और असत् भी, इसमें कोई अनिश्चितता नहीं है क्योंकि प्रत्येक वस्तु स्वरूप से सत् और पर रूप से असत् होती है यह निश्चित है। इसके बिना वस्तु व्यवस्था नहीं बनती। वस्तु का वस्तुत्व दो मुद्दों पर स्थापित है—स्वरूप का ग्रहण और पर रूपों का त्याग। यदि इनमें से एक भी मुद्दे को अस्वीकार किया जाय तो वस्तु का वस्तुत्व कायम नहीं रह सकता। यदि वस्तु का अपना कोई स्वरूप न हो तो बिना स्वरूप के वह वस्तु नहीं हो सकती। इसी तरह स्वरूप की तरह यदि वह पर रूप को भी अपना ले तो भी उसकी अपनी स्थिति नहीं रहती। वह तो सर्वात्मक हो जायेगी।

स्याद्वाद

इस प्रकार जब वस्तु परस्पर में विरुद्ध प्रतीत होने वाले धर्मों का समूह है तो उसको जानना उतना कठिन नहीं है जितना उसे कहना कठिन है। क्योंकि एक ज्ञान अनेक धर्मात्मक वस्तु को एक साथ जान सकता है किन्तु शब्द के द्वारा एक समय में वस्तु के एक ही धर्म को कहा जा सकता है। उस पर भी शब्द की प्रवृत्ति वक्ता के अधीन है। वक्ता वस्तु के अनेक धर्मों में से किसी एक धर्म को मुख्य करके

बोलता है। जैसे देवदत्त को उसका पिता पुत्र कहकर बुलाता है और पुत्र पिता कहकर पुकारता है। किन्तु देवदत्त न केवल पिता है और न केवल पुत्र है। वह तो दोनों है। किन्तु पिता की दृष्टि से देवदत्त का पुत्रत्व धर्म मुख्य है और पुत्र की दृष्टि से पितृत्व धर्म मुख्य है। शेष धर्म गौण है क्योंकि अनेक धर्मात्मक वस्तु के जिस धर्म की विवक्षा होती है वह धर्म मुख्य और शेष धर्म गौण होते हैं। अतः वस्तु के अनेक धर्मात्मक होने और शब्द में एक समय में उन सब धर्मों को कहने की शक्ति न होने से तथा वक्ता का अपनी-अपनी दृष्टि से वचन व्यवहार करते देखकर, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने में श्रोता को कोई धोखा न हो, इसलिए अनेकान्तवाद में से स्याद्वाद का आविष्कार हुआ।

आचार्यों ने अनेकान्तात्मक अर्थ के कथन को स्याद्वाद कहा है। 'स्याद्वाद' के अनुसार वक्ता वस्तु के जिस धर्म को कहता है उससे इतर शेष धर्मों का सूचक 'स्यात्' शब्द समस्त वाक्यों के साथ प्रकट या अप्रकट रूप से सम्बद्ध रहता है जो बतलाता है कि वस्तु में केवल वही धर्म नहीं है जो कहा जा रहा है किन्तु उसके सिवाय अन्य भी धर्म हैं। 'स्यात्' शब्द का अर्थ 'कथंचित्' या किसी 'अपेक्षा से' है।

आचार्य समन्तभद्र ने कहा है—

स्याद्वादः सर्वथंकान्तत्यागात् किंवृतचिद्विधिः।
सप्तभंगनयापेक्षो हेयादेय विशेषकः॥

—आप्तमीमांसा १०४।

अर्थात्—'कथंचित्' कथंचन आदि स्याद्वाद के पर्याय हैं, स्याद्वाद को कहते हैं। यह स्याद्वाद अनेकान्त को विषय करके सात भंगों और नयों की अपेक्षा से स्वभाव और परभाव से सत् असत् आदि की व्यवस्था का कथन करता है।

अतः वाक्य के साथ प्रयुक्त 'स्यात्' शब्द प्रकृत अर्थ के धर्मों को पूर्णरूप से सूचित करता है। इस तरह अकलंक देव के अभिप्राय से 'स्यात्' शब्द अनेकान्त का सूचक है और उनके व्याख्याकार आचार्य विद्यानन्द के अभिप्राय से अनेकान्त का द्योतक भी है क्योंकि निपात द्योतक भी होते हैं। यदि केवल 'स्यात्' शब्द का प्रयोग किया जाये तो अनेकान्त सामान्य की ही प्रतिपत्ति होती है, अतः उसके साथ जीव

आदि पद का प्रयोग किया जाता है यथा 'स्यात् जीव' अर्थात् कथंचित् जीव है—स्वरूप की अपेक्षा जीव है तथा पररूप की अपेक्षा जीव नहीं है। स्यात् शब्द के बिना अनेकान्त अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं हो सकती।

किन्तु लोक में और शास्त्र में प्रत्येक पद और प्रत्येक वाक्य के साथ स्यात् पद का प्रयोग तो नहीं देखा जाता। तब उसके बिना अनेकान्त की प्रतिपत्ति कैसे हो सकती है ? इसके उत्तर में आचार्य विद्यानन्द ने कहा है—स्यात् पद का प्रयोग नहीं होने पर भी उसको जानने वाले उसे समझ लेते हैं।

कोई-कोई आधुनिक विद्वान शायद को स्यात् का स्थानापन्न समझते हैं किन्तु यह ठीक नहीं है। 'शायद' शब्द तो सन्देह को व्यक्त करता है किन्तु 'स्यात्' शब्द सन्देहपरक नहीं है। वह केवल इस बात का सूचक या द्योतक है कि वक्ता विवक्षावश वस्तु के जिस धर्म को कहता है वस्तु में केवल वही एक धर्म नहीं है अन्य भी प्रतिपक्षी धर्म हैं।

स्याद्वाद का उपयोग

यह स्याद्वाद या अपेक्षावाद न केवल दार्शनिक क्षेत्र में ही उपयोगी है किन्तु लोकव्यवहार भी उसके बिना नहीं चलता। इसके लिये दो लौकिक दृष्टान्त ऊपर दिये गये हैं। यह अनेकान्तवाद की देन है और एक वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने वाले विभिन्न व्यक्तियों में सामन्जस्य स्थापित करना इसका काम है। प्रत्येक व्यक्ति अपने ही दृष्टिकोण को उचित और दूसरों के दृष्टिकोण को गलत मानता है। यदि वह अपने दृष्टिकोण की तरह दूसरे दृष्टिकोण को भी सहानुभूतिपूर्वक अपनाये तो पारस्परिक विवाद समाप्त हो जाता है। यद्यपि अनेकान्तवाद और स्याद्वाद दार्शनिक क्षेत्र की देन है और इनका उपयोग भी दार्शनिक क्षेत्र के विवादों को सुलझाने में ही हुआ है। आचार्य समन्तभद्र ने आप्तमीमांसा में दो विरोधी एकान्तवादों में दोष दिखाकर यह बताने का सफल प्रयत्न किया है कि यदि इनका समन्वय स्याद्वाद के द्वारा किया जाता है तो ये विरोधी वाद भी अविरुद्ध हो जाते हैं। भावैकान्त अभावैकान्त, नित्यैकान्त अनित्यैकान्त, भेदैकान्त अभेदैकान्त, अद्वैतैकान्त द्वैतैकान्त आदि सभी विरोधी एकान्तवादों का

जब समन्वय सम्भव है तब कौनसी समस्या इसके द्वारा हल नहीं की जा सकती। किन्तु उसका प्रयोग करने की आवश्यकता है। इसके लिए मूल में महावीर की अहिंसक भावना होना आवश्यक है। अहिंसक भावना की ही देन अनेकान्त और स्याद्वाद है। विचार के क्षेत्र में जो हिंसा का ताण्डव होता था उसे मिटाने के लिए ही अनेकान्त और स्याद्वाद का सर्जन हुआ। इनके बिना विचार के क्षेत्र में प्रवर्तित हिंसा का मिटना अशक्य है। अत. अहिंसा का ही एक नाम अनेकान्त और स्याद्वाद है यदि ऐसा कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं है। इसे हम सत्याग्रह भी कह सकते हैं क्योंकि अनेकान्ती सत्य के प्रति आग्रही होता है। जो सत्य है वह अनेकान्त रूप है और जो अनेकान्त रूप है वही सत्य है। अनेकान्त दृष्टि के बिना सत्य तक पहुंचना सम्भव नहीं है। अतः सत्य के खोजी को अनेकान्त दृष्टि से सम्पन्न होना चाहिए तभी वह सत्य दृष्टा हो सकता है।

गांधी जी और अहिंसा

वर्तमान युग में म० गांधी ही एक ऐसे व्यक्ति हुये हैं जिन्होंने अहिंसा की शक्ति को न केवल पहचाना किन्तु एक ऐसे क्षेत्र में, जिसमें इससे पूर्व उसका उपयोग इस रूप में नहीं किया गया था। क्रियात्मक प्रयोग करके युद्धों से त्रस्त विश्व के सामने अहिंसा की एक आशा और विश्वास की किरण के रूप में चमकाया।

गांधी जी के द्वारा अहिंसा को राजनैतिक संग्राम का अस्त्र बनाया जाने से पूर्व बेचारी अहिंसा का न कोई नाम लेता था और न कोई उसे पूछता था। हां, यदि किसी को भारत की दुर्दशा और दासता का दु:ख खलता था तो वह अहिंसा को ही उसका मूल कारण मानकर अहिंसा और उसके प्रवर्तक जैन और बौद्धों को खरी-खोटी अवश्य सुना देता था। हमारे राजनेता-देशनेता स्व० लाला लाजपत-राय ने तो अपनी एक पुस्तक में लिख भी दिया था कि जैनों की अहिंसा ने भारत को कायर और बुजदिल बना डाला आदि। उस समय बेचारे जैनो बहुत कुड़मुड़ाये। अन्त में लालाजी से जैनों का एक डेपुटेशन मिला, उन्हें अपनी बातें समझाईं। तब कहीं जाकर लालाजी पसीजे और उन्होंने अपनी पुस्तक के दूसरे संस्करण में से वे शब्द निकाल देने का वचन दिया। ऐसी दयनीय स्थिति बेचारी अहिंसा की थी। किन्तु महात्मा जी ने अपने प्रयोगों के द्वारा न केवल उक्त लांछन का परिमार्जन किया किन्तु अहिंसा का मुख सदा के लिये उजला कर दिया और ऐसे ऐसे व्यक्तियों को उसका प्रशंसक समर्थक और पालक बना दिया जो शताब्दियों से सिर से पैर तक हिंसा में डूबे हुये थे और जिन्हें मां के दूध के साथ 'खून का बदला खून' घोल-घोलकर पिलाया गया था। ऐसे व्यक्तियों में सरहदी गांधी बादशाह खां का नाम उल्लेखनीय है। एक बार उन्होंने अपने भाषण में कहा था—'अगर हम अहिंसा का सबक न सीखते तो बड़ी दुर्गति होती। हमने तो उसे अपने पूरे स्वार्थ से अपनाया है। हम तो जन्म से ही लड़ाके हैं और इस रिवाज को हम तो आपस में ही लड़कर

जारी रखते आये हैं। एक दफा एक कुनबे में या कबीले में एक खून हुआ कि उसका बदला लेना एक इज्जत की बात समझी जाती थी। आम तौर पर हम लोगों में मुआफी जैसी कोई चीज ही नहीं है। और इसलिये वहाँ सिर्फ बदले में हिंसा और प्रतिहिंसा ही है। इस तरह यह विनाशचक्र कभी खतम नहीं होता। इसमें शक नहीं कि अहिंसा बतौर मुक्ति के हमारे पास आई है।'

इस तरह बहुत से प्रख्यात विदेशियों ने भी अहिंसा के सम्बन्ध में अपना अभिमत प्रकट किया है। यह सब गांधी जी के ही प्रचार का शुभ फल है। गांधो जी ने केवल अपने प्रयोगों के द्वारा ही अहिंसा का प्रसार नहीं किया, उनकी लेखनी भी सदा इस दिशा में सक्रिय रही है। अहिंसा के सम्बन्ध में जितना अधिक उन्होंने लिखा और कहा है उतना न तो किसी ने लिखा हो है और न कहा ही है। उनका दृष्टि-कोण अहिंसा के व्यावहारिक रूप को ओर ही अधिक था किन्तु अहिंसा की शक्ति में उनकी प्रगाढ़ श्रद्धा किसी भी अहिंसक से कम नहीं थी। उनके नीचे लिखे उद्‌गार इसके साक्षी हैं—

"हम तो यह सिद्ध करने के लिये पैदा हुये हें कि सत्य और अहिंसा केवल व्यक्तिगत आचरण के नियम नहीं हैं। वह समुदाय, जाति और राष्ट्र की नीति हो सकती है। अभी हमने यह सिद्ध नहीं कर दिया है, लेकिन यही हमारे जीवन का उद्देश्य हो सकता है। इसी को मैंने अपना कर्तव्य माना है। चाहे सारा जगत मुझे छोड़ दे तो भी मैं इसे नहीं छोड़ूंगा। मेरी श्रद्धा इतनी गहरी है उसके सिद्ध करने के लिये ही मैं जिऊँगा और उसी प्रयत्न में मैं मरूंगा। मेरी श्रद्धा मुझे नित्य नया दर्शन कराती है।"

'मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा हमेशा के लिये है, वह आत्मा का गुण है इसलिये वह व्यापक है, क्योंकि आत्मा तो सभी के होती है। आत्मा सबके लिये है, सब समयों के लिये है, सब जगहों के लिये है। अगर वह दरअसल आत्मा का गुण है तो वह हमारे लिये सहज हो जाना चाहिये।'

'मेरा' यह विश्वास हे कि अहिंसा सिर्फ व्यक्ति का गुण नहीं है बल्कि एक सामाजिक गुण भी है जिसे दूसरे गुणों की तरह विकसित

---

१. हरिजन सेवक, १४ जनवरी १९३९।

करना चाहिये इसमें कोई शक नहीं कि समाज अपने आपस के कारो-बार में अहिंसा का प्रयोग करने से ही व्यवस्थित होता है। मैं जो कहना चाहता हूं वह यह है कि इसे एक बड़े राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर काम में लाया जाये।'

अहिंसा के सिद्धांत

अहिंसा के जिन सिद्धांतों के आधार पर गांधी जी उसे राष्ट्रीय ही नहीं किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय पैमाने पर काम में लाने की सलाह देते थे, वे उन्हीं के अनुसार इस प्रकार हैं—

१. अहिंसा परम श्रेष्ठ मानव धर्म है। पशुबल से वह अनन्तगुना महान और उच्च है।

२. मनुष्य के स्वाभिमान और समान भाव की वह सबसे बड़ी संरक्षक है। हां, वह मनुष्य की चल-अचल सम्पत्ति को हमेशा रक्षा करने का आश्वासन नहीं देती। हालाँकि अगर मनुष्य उसका अभ्यास कर ले तो शस्त्रधारियों की सेनाओं की अपेक्षा वह उसकी अच्छी तरह रक्षा कर सकती है। यह तो स्पष्ट है कि वह अन्याय से अर्जित संपत्ति तथा दुराचार की रक्षा में जरा भी सहायक नहीं हो सकती है।

३. अहिंसा एक ऐसी शक्ति है जिसका सहारा बालक, युवा, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सब ले सकते हैं, बशर्ते कि उसकी उस करुणामय में तथा मनुष्यमात्र में सजीव श्रद्धा हो। जब हम अहिंसा को अपना जीवन सिद्धान्त बनालें तो वह हमारे संपूर्ण जीवन में व्याप्त होनी चाहिये। यों कभी-कभी उसे पकड़ने और छोड़ने से लाभ नहीं हो सकता।

४. यह समझना एक जबरदस्त भूल है कि अहिंसा केवल व्यक्तियों के ही लिये लाभदायक है, जनसमूह के लिये नहीं। जितना वह व्यक्ति का धर्म है उतना ही वह राष्ट्रों के लिये भी धर्म है।

५. किन्तु जो व्यक्ति और राष्ट्र अहिंसा की शक्ति देखना चाहें उन्हें आत्मसम्मान के सिवा अपना सर्वस्व (राष्ट्रों को तो एक-एक आदमी) गंवाने के लिये तैयार रहना चाहिये। इसलिये वह दूसरे के मुल्कों को हड़पने अर्थात् आधुनिक साम्राज्यवाद से, जो कि

अपनी रक्षा के लिये पशुबल पर निर्भर है, वह बिलकुल मेल नहीं खाता।

६. अहिंसा की अग्निपरीक्षा तो तब होती है जब हिंसा के लिये भयंकर से भयंकर उत्तेजना होते हुए भी मनुष्य मन, वाणी और कर्म से अहिंसक ही बना रहे। भले और सौम्य मनुष्य के साथ बर्ताव करते हुए अगर कोई अहिंसक रहे तो इसमें कौन-सी बड़ी बात है?

७. मेरे रास्ते में जो मुसीबतें आवें उन्हें मैं सहूं या उनके लिये जिनका विनाश करना पड़े उनका नाश करता जाऊँ और अपना रास्ता तय करूँ? जिज्ञासु के सामने यह सवाल खड़ा हुआ। उसने देखा कि अगर नाश करता चलता है तो वह रास्ता तय नहीं करता, बल्कि जहाँ था वहीं रहता है। अगर संकटों को सहता है तो आगे बढ़ता है। इसी से जिज्ञासु को अहिंसा मिली।

८. आज हम जिस स्थूल वस्तु को देखते हैं वही अहिंसा नहीं है। किसी को कभी न कभी मरना तो है ही। कुविचार मात्र हिंसा है। उतावलापन, जल्दीपना हिंसा है, मिथ्याभाषण हिंसा है, द्वेष हिंसा है, किसी का बुरा चाहना है हिंसा है। जिसको दुनिया को जरूरत है उस पर कब्जा रखना भी हिंसा है।

९. अहिंसा में विश्वास रखनेवालों की आस्था ही इस आधार पर है कि मानव-स्वभाव मूलतः एक ही है और उस पर प्रेम के बर्ताव का जरूर ही प्रभाव पड़ता है।

उक्त सिद्धान्त नये नहीं हैं, बल्कि उतने ही पुराने हैं जितना अहिंसा का संदेश पुराना है। किन्तु अहिंसा के प्रयोगों के लिये उन्होंने जो क्षेत्र चुना और उनका जिस ढंग से उपयोग किया वह अवश्य नूतन थे। असल में महावीर और बुद्ध की सामयिक स्थिति से गांधी जी की सामयिक स्थिति जुदी थी। वे उस समय जन्मे थे जब भारत दासता की जंजीरों में जकड़ा हुआ था और साम्राज्यवाद की चक्की में पीसा जा रहा था। भारतीयों में आत्म सम्मान की भावना लुप्त हो चुकी थी और भय और कायरता ने उन्हें अपने चंगुल में फांस रखा था। विश्व में साम्राज्यवादी महायुद्धों की अग्नि सुलगने लगी थी। और इस तरह मानवीय हिंसा का इतना प्राबल्य हो चला था कि उसने पाशविक रूप धारण कर लिया था। फलतः गांधी जी ने भारत की

मुक्ति के द्वारा अपनी अहिंसा का प्रयोग करके उसे अन्तर्राष्ट्रीय रूप देने की जीवनभर चेष्टा की।

एक बार एक राजनैतिक प्रतिनिधि मण्डल के साथ जब वह इंग्लेंड गये तो तत्कालीन भारतमंत्री माण्टेग्यू ने उनसे पूछा कि आपके जैसे समाज सुधारक इस प्रतिनिधि मण्डल के साथ यहां कैसे आये ?

गांधी ने कहा कि मेरी सामाजिक प्रवृत्ति का यही विस्तार मात्र है। सारी मनुष्य जाति के साथ आत्मीयता कायम किये बिना मेरी धर्म भावना सन्तुष्ट नहीं हो सकेगी। और यह तभी सम्भव है जब राजनैतिक मामलों में भाग लूं। क्योंकि आज की दुनियां में मनुष्यों की प्रवृत्ति एक और अविभाज्य है। उसमें सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और शुद्ध धार्मिक ऐसे जुदे-जुदे भाग नहीं किये जा सकते। मानव हित की प्रवृत्ति से भिन्न धर्म मैं नहीं जानता। ऐसी धर्मभावना से रहित दूसरी तमाम प्रवृत्तियाँ नैतिक आधारविहीन हैं।

इस तरह गांधी जी ने मानव हित की भावना से प्रेरित होकर अहिंसा का मार्ग अपनाया और भारतवर्ष को ही अपना कार्यक्षेत्र बनाया। भारतवर्ष को कार्यक्षेत्र बनाने में केवल गांधी जी का भारतीय होना ही हेतु नहीं था बल्कि एक दूसरा मुख्य हेतु था जो उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार था—

१०. मनुष्यों के लिए यथासम्भव आत्मशुद्धि अहिंसा का एक आवश्यक अंग है। बिना आत्मशुद्धि के प्राणीमात्र के साथ एकता का अनुभव नहीं किया जा सकता। और आत्मशुद्धि के अभाव में अहिंसा धर्म का पालन करना भी असम्भव है। अशुद्धात्मा परमात्मा के दर्शन करने में असमर्थ रहता है। इसलिए जीवनपथ के सारे क्षेत्रों में शुद्धि की जरूरत रहती है। इस तरह की शुद्धि हमारा साध्य है। क्योंकि व्यक्ति और समष्टि में इतना निकट का सम्बन्ध है कि एक की शुद्धि अनेक की शुद्धि के बराबर हो जाती है······शुद्धि का यह मार्ग विकट है शुद्ध होने का मतलब तो मन से, बचन से और काय से निर्विकार होना, राग-द्वेष आदि से रहित होना है।

११. मनुष्य मनुष्य के बीच मुकाबला करें तो ऐसा देखने में आयेगा कि अहिंसक मनुष्य की हिंसा करने की जितनी शक्ति होगी उतनी

ही मात्रा में उसकी अहिंसा का माप हो जायेगा। यहाँ कोई हिंसा की शक्ति के बदले हिंसा की इच्छा समझने की भूल न करे। अहिंसक में हिंसा की इच्छा तो कभी भी नहीं हो सकती।

१२. अहिंसा हमेशा हिंसा की अपेक्षा बढ़ी चढ़ी शक्ति रहेगी। अर्थात् एक मनुष्य में उसके हिंसक होते हुये जितनी शक्ति होगी उससे अधिक शक्ति उसके अहिंसक होने से होगी।

१३. अहिंसा में हार के लिए स्थान ही नहीं है। हिंसा के अन्त में तो हार ही है।

१४. अहिंसा के सम्बन्ध में यदि जीत शब्द का प्रयोग किया जा सकता है तो यह कहा जा सकता है कि अहिंसा के अन्त में हमेशा ही जीत होगी। वास्तविक रीति से देखें तो जहाँ हार नहीं वहां जीत भी नहीं।

'अनादिकाल' से भारतवर्ष को अहिंसा धर्म का उपदेश तो अवश्य मिलता चला आ रहा है, किन्तु समस्त भारत में सक्रिय अहिंसा पूर्णरूप से किसी काल में अमल में लाई गई थी ऐसा मैंने भारत के इतिहास में नहीं देखा। यह होते हुए भी अनेक कारणों से मेरी ऐसी अचल श्रद्धा सही है कि भारत किसी भी दिन सारे जगत को अहिंसा का पाठ पढ़ायेगा। ऐसा होने में भले युग गुजर जाये पर मेरी बुद्धि तो यही बतलाती है कि दूसरा कोई राष्ट्र इस कार्य का अगुआ नहीं बन सकता।'

'अगर भारत तलवार के सिद्धान्त को अपनाता है तो उसे क्षणिक विजय प्राप्त हो सकती है। पर तब भारत मेरे हृदय का गौरव नहीं रह जायेगा। भारत के प्रति मेरी इतनी भक्ति इसलिए है कि मेरे पास जो कुछ है वह सब मैंने उसी से पाया है। मेरा पक्का विश्वास है कि उसे दुनियां को एक सन्देश देना है। उसे अंधा बनाकर यूरोप की नकल नहीं करनी है। जिस दिन भारत तलवार का सिद्धान्त ग्रहण करेगा वह मेरी परीक्षा का दिन होगा और मुझे आशा है कि मैं अपने कर्तव्य से हलका नहीं उतरूंगा। मेरा धर्म भौगोलिक सीमाओं में बंधा हुआ नहीं है। अगर मुझे इसमें जीवित श्रद्धा होगी तो मेरे भारत प्रेम को भी पार कर जायेगी।'

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि गांधी जी भारत से भी अधिक अपने अहिंसा के सिद्धान्त को प्यार करते थे। उसके लिए वे भारत को भी छोड़ सकते थे। भारत को तो वह इसीलिए पकड़े हुए थे कि उसमें ही यह शक्ति है कि वह विश्व को आज भी वह शुभ सन्देश दे सकता है। इसी से उन्होंने एक बार हरिजन सेवक में लिखा था—

'अगर हिन्दुस्तान जगत को अहिंसा का सन्देश न दे सका तो यह तबाही आज या कल आने ही वाली है और कल के बदले आज इसके आने की संभावना अधिक है। जगत युद्ध के शाप से बचना चाहता है, पर कैसे बचे, इसका उसे पता नहीं चलता। यह चाबी हिन्दुस्तान के हाथ में है।'

गांधी जी ने हिन्दुस्तान के हाथ की इस चाबी का उपयोग महायुद्धों से त्रस्त विश्व की सुरक्षा में करने का प्रयत्न किया और भारतीय कांग्रेस के द्वारा अहिंसात्मक सत्याग्रह का प्रयोग कराया। किन्तु दोनों के उद्देश में महान अन्तर रहा। जब गांधी जी को भारत की स्वतन्त्रता से भी अधिक अहिंसा प्रिय थी तब कांग्रेस को केवल भारत की स्वतंत्रता ही अभीष्ट थी। अतः उसने उसे एक नीति के रूप में ही स्वीकार किया, सिद्धान्त के रूप में नहीं, जैसा कि पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी कहानी में लिखा है—

'इन तर्कों ने हमें प्रभावित तो किया किन्तु अहिंसा हमारे लिये और सम्पूर्ण रूप से कांग्रेस के लिए कोई धर्म या कोई निर्विवाद मत या सिद्धान्त नहीं था और न हो सकती थी। वह हमारे लिए एक नीति, एक तरीका भर हो सकती थी। जिससे हम कुछ परिणामों की आशा रख सकते थे। इन्हीं परिणामों की कसौटी पर उसे अन्तिम रूप से कहना भी होगा। अलग-अलग लोग इसे धर्म या अविवादित मत का रूप दे सकते हैं किन्तु कोई भी राजनैतिक संस्था, जब तक कि उसका रूप राजनैतिक रहता है, ऐसा नहीं कर सकती।'

कांग्रेस कार्य समिति के अन्य भी अनेक प्रभावशाली सदस्यों के ऐसे ही विचार थे। फलतः द्वितीय महायुद्ध के छिड़ने के बाद कुछ शर्तों के साथ मित्रराष्ट्रों को सहायता देने का प्रस्ताव जब कार्यसमिति में आया तो मतभेद खड़ा हो गया। गांधी जी केवल नैतिक सहायता देने के पक्षपाती थे। जबकि कार्यसमिति के कुछ प्रभावशाली सदस्य

क्रियात्मक सहायता देने को तैयार थे। प्रस्ताव तो पास हो ही गया गांधी जी ने उससे अपने को अलग कर लिया। गांधी सेवा संघ की मीटिंग में उस पर बोलते हुए गांधी जी ने जो उद्गार प्रकट किये वह इस प्रकार हैं—

"कांग्रेस के महामण्डल में (हाई कमाण्ड ने) कल जो प्रस्ताव किया उस पर से साफ है कि हम परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं हुये। वह महामंडल के लिए शर्म की बात नहीं है। वह तो मेरे लिये शर्म की बात है। मुझमें इतनी शक्ति नहीं है कि मेरी बात तीर जैसी सीधी हृदय तक पहुंच सके। कांग्रेस में भी तो मैं मुख्य कार्यकर्ता रहा। उनके दिलों पर मैं अपना असर नहीं कर सका। इसमें शर्म तो मेरी ही है। इससे यह सिद्ध हुआ कि आज तक जिस अहिंसा का आश्रय हमने लिया वह सच्ची अहिंसा नहीं थी। वह निःशस्त्रों की अहिंसा थी। लेकिन मैं तो कहता हूं अहिंसा बलवानों का शस्त्र है। हमने आज तक जो कुछ किया वह अहिंसा के नाम पर दूसरा ही कुछ किया। उसको आप और कुछ कह लीजिये लेकिन अहिंसा नहीं कह सकते। वह क्या था यह मैं नहीं बता सकता···लेकिन मैं इतना जानता हूं कि वह अहिंसा नहीं थी। मेरे नजदीक तो शस्त्रधारी भी बहादुरी में अहिंसक व्यक्ति की बराबरी नहीं कर सकता। वह तो शस्त्र का सहारा चाहता है इसलिये वह अशक्त है। अहिंसा अशक्तों का अस्त्र नहीं है।

तो आप पूछेंगे कि मैंने जनता से उस शस्त्र का प्रयोग क्यों करवाया? क्या उस वक्त मैं यह नहीं जानता था? मैं जानता तो था लेकिन उस वक्त मेरी दृष्टि इतनी शुद्ध नहीं हुई थी। अगर उस वक्त मेरी दृष्टि शुद्ध होती तो मैं लोगों से कहता कि 'मैं आपसे जो कुछ करा रहा हूँ उसे आप अहिंसा न कहें। आप अहिंसा के लायक नहीं हैं, डर से भरे हुये हैं। आपके दिलों में हिंसा भरी हुई है आप अंग्रेजों से डरते हैं। अगर हिन्दू हैं तो मुसलमानों से डरते हैं। अगर मुसलमान हैं तो तगड़े हिन्दुओं से डरते हैं। इसलिये जो प्रयोग मैं आप से करा रहा हूँ वह अहिंसा का प्रयोग नहीं है। सारा डरपोकों का समाज है। उसमें से एक डरपोक आदमी मैं भी हूँ। यह सब मुझे साफ-साफ कह देना चाहिये था।'

आगे गांधी जी ने कहा—

'परन्तु इसमें से भी कुछ अच्छा परिणाम निकल आया। अहिंसा हमारी जबान पर थी। उसका कुछ शुभ परिणाम हुआ। थोड़ी बहुत सफलता मिल गई।...अहिंसा के नाम ने भी इतना किया तो फिर अगर दर असल हममें सच्ची अहिंसा आ जाये तो हम आकाश में उड़ने लगेंगे। 'जो शक्ति हिटलर के हवाई जहाजों में नहीं है वह उड़ने की शक्ति हममें होगी।' मुझमें अहिंसा की अपूर्ण शक्ति है यह मैं जानता हूं। लेकिन जो कुछ शक्ति है वह अहिंसा की ही है। लाखों लोग मेरे पास आते हैं। प्रेम से मुझे अपनाते हैं। औरतें निर्भय होकर मेरे साथ रह सकती हैं मेरे पास ऐसी कौन-सी चीज है। केवल अहिंसा की शक्ति है और कुछ नहीं है। अहिंसा की यह शक्ति एक नई नीति के रूप में मैं जगत को देना चाहता हूं।'

गांधी जी ने नई नीति के रूप में जगत के सामने अहिंसा का सिद्धान्त रखा और प्रत्येक कठिनाई का सामना अहिंसा के द्वारा करने की सलाह विश्व को दी।

अहिंसा और युद्ध

द्वितीय महायुद्ध के समय लड़ाकू राष्ट्रों से शान्ति की अपील की और अहिंसात्मक प्रतिरोध के द्वारा युद्ध का सामना करने की सलाह दी। उनका कहना था कि 'इतने काल से मनुष्य हिंसा का ही प्रयास करता आया है। और उसका प्रतिशोध हमेशा उल्टा हुआ है। यह कह सकते हैं कि संगठित अहिंसात्मक मुकाबले का प्रयोग अभी मनुष्य ने कहीं भी योग्य पैमाने पर नहीं देखा। इसलिए यह लाजिमी है कि जब वह यह प्रयोग देखेगा तो उसकी श्रेष्ठता स्वीकार कर लेगा। यह हो सकता है कि अपार पशुबल के सामने प्रजा हिम्मत हार जाए किन्तु ऐसा तो सभी युद्धों में होता है। पर अगर ऐसी भीरुता प्रजा में आ जाए तो यह अहिंसा के कारण नहीं बल्कि अहिंसा के अभाव से, अथवा पर्याप्त मात्रा में सक्रिय अहिंसा न न होने के कारण होगा।'

अमेरिका के एक प्रसिद्ध मासिक पत्र 'दी वर्ल्ड टुमारो' के अगस्त १६२८ के अंक में 'तलवार, त्याग और राष्ट्रीय संरक्षण' शीर्षक

एक लेख प्रकाशित हुआ था। उसकी कतरन एक अमेरिकन ने गांधी जी के पास भेजी थी। उसका सारांश उन्होंने इस प्रकार किया था—

'शान्तिभाव के सम्बन्ध में सबसे पहले यह सवाल उठता है कि इस बीसवीं सदी में, जब कि युद्ध के अस्त्र शस्त्र इतनी अधिक संपूर्णता के शिखर तक पहुंच गये हैं और उनकी संहारक शक्ति इतनी ज्यादा बढ़ गई है, क्या सचमुच फौजी साधनों द्वारा राष्ट्रीय संरक्षण हो सकता है? संभव है कि भूतकाल में फौजी साधनों की मदद से राष्ट्रीय संरक्षण हो सका होगा, मगर आज तो यह उपाय एकदम पुराना पड़ गया है। और इस पर निर्भर रहना आफत मोल लेना है, क्योंकि आज हम देख सकते हैं कि जहां एक ओर फौजी सामान का खर्च दिन-दिन बढ़ता जाता है वहां दूसरी ओर संरक्षण संबंधी उसकी उपयोगिता भी दिन पर दिन घटती जाती है और आगामी दशकों में यही बात अधिकाधिक होती जायेगी।

पिछले ४० वर्षों में, यानी इस पत्र के पाठकों के जीवन में ही, संयुक्त राज्य की नौसेना का सालाना खर्च डेढ़ करोड़ डालर से बढ़-कर ३१ करोड़ ८ लाख डालर हो गया है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि संयुक्त राज्य अपनी फौज और नौसेना पर चौबीस घण्टों में लाख डालर स्वाहा करता है। 'युद्ध मनुष्य का सबसे बड़ा उद्योग' शीर्षक एक अग्रलेख में 'न्यूयार्क टाइम्स' के मार्च १९२८ वाले अंक में उसके लेखक ने भली-भांति सिद्ध कर दिया था कि इस जमाने में फौजी लड़ाई की तैयारी ही संसार का सबसे बड़ा उद्योग होगया है।

मगर इसकी वजह से संसार को कितनी ज्यादा कुर्बानी करनी पड़ती है उसका अन्दाजा अकेले डालरों के हिसाब से ही नहीं लगाया जा सकता क्योंकि युद्ध के शस्त्र तैयार करने में रुपया तो खर्च होता ही है, मगर इसके सिवा भी, उसकी साज-संभाल करने और फौजी सामान बनाने के लिये लोगों की एक बड़ी संख्या की जरूरत रहती है। इस तरह देशों की समस्त और उनकी तमाम औद्योगिक शक्ति युद्ध की तैयारी में नष्ट होती जाती है। भूतकाल में वेतनजीवी सिपाहियों की फौजें ही युद्ध के मैदानों में भिड़ती थीं। इसलिये उन दिनों आज की अपेक्षा लोगों के एक बहुत थोड़े हिस्से को युद्ध में हाथ बटाना

पड़ता था। मगर वर्तमान युद्ध विशारद राष्ट्र की सारी जनता को युद्ध के लिये भर्ती कर लेते हैं।

फ्रांस में तो एक ऐसा कानून बना देने की सिफारिश की गई है जिसकी रू से स्त्रियों का भर्ती होना भी अनिवार्य हो जाये। शान्ति के दिनों में भी पाठशालाओं में फौजी तालीम को अनिवार्य बना देने, राष्ट्रीय शिक्षा पर फौजी विभाग की सूक्ष्म देख-रेख और प्रभुता रहने आदि कारणों से देश के नौजवानों की मनोवृत्ति भी दिन दिन ज्यादा युद्धप्रिय होती जाती है। यही नहीं, बल्कि डाकघर, समाचारपत्र, रेडियो, सिनेमा, विज्ञान, कला आदि क्षेत्रों के प्राणी भी धीरे-धीरे इसकी अधीनता में आते जाते हैं। इससे यह डर लगता है कि कहीं जगतव्यापी युद्ध की जो तैयारी और संगठन इस समय हो रहा है उसके फन्दे में वह लोग भी शीघ्र न फँस जाएं। अगर यह युद्ध हुआ ही तो इसकी वजह से मानव जाति की स्वतन्त्रता को, वाणी स्वातन्त्र्य और विचार स्वातन्त्र्य के जन्मसिद्ध अधिकार और सामाजिक उन्नति को घोर आघात पहुंचेगा। अर्थात् फौजी साधनों द्वारा देश के संरक्षण के लिये जो कीमत चुकानी पड़ती है उसमें इसकी भी गिनती होनी चाहिये। इस पर पाठक समझ सकेंगे कि फौजी तैयारी द्वारा की गई रक्षा संसार के लिये कितनी मंहगी पड़ती है और भविष्य में कितनी अधिक मंहगी पड़ेगी।

लेकिन इससे भी अधिक चिन्ता की बात तो यह है कि फौजी साधन पर बराबर अनन्त धन व्यय करते हुए भी आज जनता सुख की नींद नहीं सो सकती। संभव है इस बीस साल तक जैसे-तैसे यह हालत निभ जाय, मगर आखिरकार तो इस नीति के कारण निःसंदेह संसार पतन के गड्ढे में गिरकर रहेगा।

कुछ समय पहले सेनेटर बोरा ने 'तैयारी के मानी' शीर्षक से लिखते हुये संसार की जनता पर दिन पर दिन बढ़ने वाले कर और सरकारी कर्ज के बढ़ते हुए बोझ की तरफ खासतौर पर ध्यान खींचा था। और कहा था—'भविष्य में सरकारों को अपनी शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग विरोधी दल के सामने लड़ने में नहीं, बल्कि अपनी रिआया की आर्थिक और राजनैतिक अशान्ति को दबाने में करना होगा।'

इसका नतीजा होगा कि राज्य जितने बड़े पैमाने पर फौजी तैयारी करेंगे उतनी ही उनकी हालत संकटमय बनेगी। क्योंकि सरकार और रिआया के बीच की खाई और अधिक गहरी होती जायेगी और जनता में निराशा तथा असन्तोष का वातावरण बढ़ता ही जाएगा। इस हालत को संरक्षण की तैयारी कहना संरक्षण शब्द का दुरुपयोग करना है। जिसकी वजह से रिआया का आर्थिक संकट घटने के बदले बढ़ता है वह तैयारी नहीं, बल्कि अतैयारी है।

इस पर टिप्पणी करते हुए गांधी ने लिखा था—

'उक्त लेखक ने फौजी तैयारी के लिए आवश्यक खर्च के जो आंकड़े दिए गए हैं उनसे सचमुच हमें सावधान हो जाना चाहिए। आजकल की युद्धकला केवल घातक शस्त्रों को बनानेवाली कला मात्र रह गई है। उसमें वीरता, शौर्य या सहनशक्ति को बहुत ही थोड़ा-थोड़ा स्थान प्राप्त है। हजारों स्त्री-पुरुष और बालकों को बटन दबाकर या ऊपर से जहर बरसाकर निमिष मात्र में नाम शेष कर देना—मार डालना ही वर्तमान युद्धकला की पराकाष्ठा है।······आज हम पश्चिमी देशों की बाहिरी तड़क-भड़क से चौंधिया गये हैं। और उनकी उन्मत्त प्रवृत्तियों को भी प्रगति का लक्षण मान बैठे हैं। फलस्वरूप हम यह नहीं देख पाते कि उनकी यह प्रगति ही उन्हें विनाश की ओर ले जा रही है। हमें समझ लेना चाहिए कि पाश्चात्य देशों के लोगों के साधनों द्वारा पश्चिमी देशों की स्पर्धा में उतरना अपने हाथों अपना सर्वनाश करना है। इसके विपरीत अगर हम समझ सकें कि इस युग में भी जगत नैतिक बल पर ही टिका हुआ है तो अहिंसा की असीम शक्ति में हम अडिग श्रद्धा रख सकेंगे और उसे पाने का प्रयत्न कर सकेंगे। ······अगर सचमुच ही हम अपनी रक्षा करना चाहते हों और संसार की प्रगति में स्वयं भी हाथ बटाने की इच्छा रखते हों तो उसके लिये तलवार त्याग, पशुबल त्याग के सिवा कोई दूसरा रास्ता ही नहीं है।'

(हिन्दी नवजीवन, ५ सितम्बर १६२६)

युद्ध से युद्ध क्यों नहीं शान्त हो सकता ? इसका विश्लेषण करते हुये एक बार गांधी जी ने कहा था—

'अगर किसी एक राष्ट्र के अन्तःकरण में कड़वाहट हो, तो क्या उसमें भावी युद्ध के बीज अन्तर्हित नहीं होंगे ? जो हो, अगर यह युद्ध

किसी पक्ष की हार जीत तक जारी रहा, तो उस दावानल में संस्कृति ही भस्म हो जाएगी। भगवान करें, और वह समय रहते बन्द हो जाये। लेकिन जब तक मनुष्यों के हृदय में द्वेष रहेगा तब तक क्या उसका बन्द होना संभव है ? और अगर मुझे एक व्यक्ति से द्वेष होगा, तो क्या उसकी जड़ें गुप्तरूप से फैलकर वह उस देश के सभी लोगों में द्वेष के रूप में परिणत नहीं होगा ?'

अहिंसा से ही मानव जाति का उद्धार

अतः गांधी जी का कहना है—

"जब तक बड़े-बड़े राष्ट्र अपना नि.शस्त्रीकरण करने का साहसपूर्वक निर्णय नहीं करेंगे तब तक शान्ति स्थापित होने की नहीं। मुझे ऐसा लगता है कि हाल के अनुभवों के बाद यह चीज बड़े-बड़े राष्ट्रों को स्पष्ट हो जानी चाहिये। मेरे हृदय में तो आधी सदी के निरन्तर अनुभवों और प्रयोगों के बाद पहले कभी ऐसा अनुभव नहीं हुआ, जैसा कि आज है कि केवल अहिंसा में ही मानव जाति का उद्धार निहित है।"

('हरिजन सेवक' १४ जनवरी १९३९)

गांधीजी के अहिंसा सम्बन्धी विचारों और प्रयोगों पर दृष्टिपात करते समय यह न भूलना चाहिए कि गांधी जी किसी भी स्थिति में कायरता को प्रश्रय देने के पक्ष में नहीं थे। एक बार 'तलवार का शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा था—

'मेरा विश्वास है कि जब सामने केवल दो विकल्प रह जाएंगे कायरता और हिंसा तो मैं हिंसा के लिए सलाह दूंगा। इसके बजाय कि भारत कायरतापूर्वक अपने ही असम्मान का शिकार बने या बना रहे मैं यह पसन्द करूंगा कि वह अपने सम्मान की रक्षा के लिये हथियार उठावे। किन्तु मेरा यह विश्वास है कि अहिंसा हिंसा से कहीं ऊंची है। और क्षमादान दण्ड से अधिक वीरतापूर्ण है।" क्षमा सिपाही की शोभा है, किन्तु संयम क्षमा तभी बन सकता है जब अपने मे दण्ड देने की शक्ति हो। उसका किसी असहाय व्यक्ति द्वारा प्रदर्शित किया जाना निरर्थक है। जब एक चूहा अपने को बिल्ली से टुकड़े-टुकड़े

करवा लेता है तो क्या यह उसकी क्षमाशीलता है। किन्तु मैं भारत को या अपने को असहाय नहीं मानता।

......आप मुझे गलत न समझिये। शक्ति शारीरिक सामर्थ्य से नहीं प्राप्त होती वह एक अजेय संकल्प से उत्पन्न होती है।

मैं स्वप्न नहीं देखा करता। मैं एक व्यावहारिक आदर्शवादी होने का दावा करता हूँ। अहिंसा का धर्म केवल ऋषियों और महात्माओं के लिये नहीं है। वह जनसाधारण के लिये भी है। जिस तरह से हिंसा पशुओं का जीवन सिद्धांत है, उसी तरह अहिंसा हम मानवों का। पशु में आत्मा सुप्त पड़ी रहती है और पशु शारीरिक बल के अतिरिक्त और कोई नियम नहीं जानता। किन्तु मनुष्य की मर्यादा के लिये एक उच्च नियम आत्मिक शक्ति के प्रति आज्ञाकारिता आवश्यक है। जिन ऋषियों ने हिंसा के बीच अहिंसा का पता लगाया वे न्यूटन से भी अधिक प्रतिभासम्पन्न थे। वे वेलिंगटन से भी बड़े योद्धा थे। शस्त्रों के प्रयोग को स्वयं जानकर भी उन्होंने उनकी निरर्थकता को समझा और इस थके हुये संसार को सिखाया कि मुक्ति हिंसा नहीं, बल्कि अहिंसा के द्वारा ही मिल सकती है।"

"गतिमान अवस्था में अहिंसा का अर्थ स्वेच्छित कष्ट सहन है। उसका अर्थ दुष्ट के सामने नम्रतापूर्वक घुटने टेकना नहीं। बल्कि अत्याचारी की इच्छा के विरुद्ध तन-मन लगा देना है। जीवन के इस नियम के अनुसार कार्य करते हुये अकेला एक व्यक्ति अपने सम्मान, अपने धर्म, अपनी आत्मा की रक्षा के लिये एक अन्यायपूर्ण साम्राज्य की पूरी शक्ति का सामना कर सकता है और इस साम्राज्य के पतन या पुनरुद्धार की नींव रख सकता है।

"अत: मैं भारतवासियों से अहिंसा का अभ्यास करने की प्रार्थना इसलिये नहीं करता कि वे दुर्बल हैं · मैं चाहता हूं कि वे अपने और अधिकार की पूर्ण चेतना के साथ अहिंसा का अभ्यास करें।...मैं चाहता हूं कि भारत इस बात को समझ ले कि उसके पास एक आत्मा है जो मर नहीं सकता, जो सब तरह की शारीरिक दुर्बलताओं पर विजयी हो सकता है। और पूरे संसार के शारीरिक संगठन का विरोध कर सकता है।"

असल में आज तक आत्मरक्षा के लिये जिस प्रकार शस्त्रयुद्ध की शिक्षा दी जाती रही है उस तरह अहिंसा की शिक्षा सार्वजनिक रूप से देने का प्रयत्न कभी नहीं किया गया। पहले युग में ऐसी शिक्षा की भले ही आवश्यकता न रही हो किन्तु आज के युग में तो उसकी अत्यन्त आवश्यकता है क्योंकि उसके बिना आज के विश्व को भावी विनाश से बचाया नहीं जा सकता। जब तक विश्व के राष्ट्र तलवार का सिद्धान्त अपनाते रहेंगे तब तक युद्ध बन्द नहीं हो सकेंगे, क्योंकि तलवार से जो प्राप्त किया जाता है वह तलवार से ही हर भी लिया जाता है। अतः तलवार के त्याग का सिद्धान्त अपनाना ही होगा।

गांधी जी ने अहिंसक सेना के शिक्षण के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट किये थे जो इस प्रकार है—

अहिंसा की शिक्षा

'विषय की चर्चा शुरू करने से पहले एक महत्व की बात कहना मैं आवश्यक समझता हूं। हिंसक लश्कर की भर्ती में आनेवालों की सिर्फ शारीरिक परीक्षा की जाती है। उसमें बूढ़े, स्त्री और छोटे लड़के नहीं लिये जाते। वैसे ही रोगियों को भी नहीं लिया जाता। लेकिन अहिंसक संघ के लिए यह नियम बिल्कुल उल्टा है। उसमें भर्ती होने वालों के शरीर की नहीं बल्कि दिल की परीक्षा होती है। इसलिये उस संघ में रोगी, बूढ़े, स्त्री और नवजवान, लूले लंगड़े और अन्धे भी शामिल हो सकते हैं और विजय पा सकते हैं।

'मारने की शक्ति पाने के लिये लम्बी तालीम लेनी पड़ती है। मरने की तो जिनमें इच्छा होती है उनमें आ ही जाती है। दस-बारह साल का लड़का पूर्ण सत्याग्रही हो सकता है। लेकिन दस-बारह साल का लड़का हिंसा लश्कर में आ ही नहीं सकता। चाहे उसकी कितनी ही तीव्र इच्छा हो। शारीरिक सम्पत्ति अपूर्ण होने के कारण वह लश्कर में भर्ती नहीं हो सकेगा। लेकिन कोई ऐसा न समझे कि चूंकि अहिंसा संघ में महारोगी और बालक को भी स्थान हो सकता है इसलिए सत्याग्रही को शारीरिक सम्पत्ति का कुछ ख्याल ही नहीं करना पड़ता। अहिंसा में ऐसे कार्य करने पड़ते हैं जो मजबूत शरीर वाले ही कर सकते हैं। इसलिये यह सोचना अति आवश्यक है कि अहिंसक मनुष्य को किस प्रकार की शारीरिक तालीम मिलनी चाहिए।

'जो नियम हिंसक लश्कर के लिए हैं उनमें से कुछ अहिंसक लश्कर को लागू हो सकेंगे। हिंसक लश्कर के पास तलवार इत्यादि सिर्फ दिखाने या शोभा के लिये नहीं होती। लेकिन उसका उपयोग दूसरे से प्राण लेने के लिये होता है। अहिंसा संघ वालों को ऐसे हथियारों का उपयोग न होने के कारण वे उसे बोझ समझेंगे और हो सके तो उससे खेती इत्यादि में उपयोग हो ऐसा सामान उत्पन्न करेंगे। उसके शस्त्र के रूप में रखने में उन्हें शर्म लगेगी। हिंसक सिपाही को शिकार करना सिखाकर हिंसा की तालीम दी जाती है। अहिंसक को शिकार करने का समय ही नहीं मिलेगा न इच्छा होगी। अहिंसक की तालीम बीमारों की सेवा करने की, अपनी जान की चिन्ता न करते हुए संकट में पड़े हुए लोगों को बचाने की, जहाँ चोर डाकू का भय हो वहाँ पहरा देने की, और उनको ऐसा न करने को समझाते-समझाते मर मिटने की होगी। हिंसक और अहिंसक का लिबास भी अलग ही होगा। हिंसक अपनी रक्षा के निमित्त बख्तर पहनेगा। सामने वालों पर प्रभाव डाल सके ऐसी पोशाक पहनेगा। अहिंसक को न किसी के साथ लड़ना है न प्रभाव डालना है इसलिए उसकी पोशाक सादी और गरीबों से मिलती-जुलती होगी।

'हिंसक चौबीसों घण्टे अपने शत्रु को मारने मरवाने की युक्ति सोचता रहेगा और ईश्वर की प्रार्थना करता होगा तब भी वह दुश्मन का नाश करने की। हिंसक लड़ाई जीतने की शर्त ही यह है कि दुश्मन के प्रति गुस्सा प्रतिदिन बढ़ाना। अहिंसक के कोश में कोई बाह्य दुश्मन ही नहीं। लेकिन जो दुश्मन माना जाता होगा उसके प्रति भी मन में तो दया प्रेम ही होगा। इस प्रकार दोनों की मनोवृत्ति में महान भेद होने के कारण दोनों की शारीरिक तालीम भी अलग ही होगी।...... अहिंसा की तालीम में जो शारीरिक शिक्षा होगी उसमें शरीर का आरोग्य, शरीर सुदृढ़ बनाना, ठंड धूप सहने की शक्ति। शरीर की चपलता आदि का समावेश होता है।......ईश्वर श्रद्धा के साथ ब्रह्मचर्य का होना भी आवश्यक है। यह तो बहुत मोटी-मोटी बातें हैं। यथार्थ में तो संकल्प शक्ति दृढ़ निश्चय और अहिंसा में दृढ़ आस्था होना जरूरी है।

असल में तो जब तक समाज का निर्माण अहिंसा के आधार पर नहीं किया जायेगा तब तक इस दिशा में प्रगति नहीं हो सकती और न युद्धों से ही छुटकारा मिल सकता है। यह तो तभी सम्भव है जब विश्व के राष्ट्र अहिंसा को अपनी वैदेशिक नीति का आधार बनायें और जो विशाल धन-जन की राशि अब तक विश्व के संहार के लिए प्रयुक्त होती रही है, उसका उपयोग राष्ट्र के निर्माण के कार्य में करें। वास्तव में तो अर्थनीति ही राजनीति है। यदि अर्थनीति का आधार अहिंसा हो जाये तो फिर ये आक्रमण ही बन्द हो जायें। इसी से गांधी जी ने कहा था कि हमारी अर्थनीति इस प्रकार की होगी कि शोषकों के लिए वह कोई प्रलोभन की वस्तु न होगी।

अहिंसक अर्थनीति ही शोषित शोषक, का भेद मिटाकर सबमें सामंजस्य स्थापित कर सकती है। अतः मनुष्यों के जीवन में अहिंसा को आकर बैठा देने की जरूरत है। अहिंसक व्यक्ति जिस काम को भी हाथ में लेंगे उसमें ही अहिंसा को अवतरित करने की चेष्टा करेंगे। इसी से गांधी जी ने अपने एक भाषण में कहा था—

'जो अहिंसक है उसके हाथ में चाहे कोई भी उद्यम क्यों न रहे उसमें वह अधिक से अधिक अहिंसा लाने की कोशिश करेगा ही। यह तो वस्तुस्थिति है कि वगैर हिंसा के कोई भी उद्योग चल नहीं सकता। एक दृष्टि से जीवन के लिए हिंसा अनिवार्य मालूम होती है। हम हिंसा को घटाना चाहते हैं और हो सके तो उसका लोप करना चाहते हैं। मतलब यह कि हम हिंसा करते हैं परन्तु अहिंसा की ओर कदम बढ़ाना चाहते हैं। हिंसा का त्याग करने की हमारी कल्पना में से अहिंसा निकली है। इसलिए हमें शब्द भी निषेधात्मक मिला है। अर्थात् जो अहिंसा को मानता है वह जो उद्योग करेगा उसमें कम से कम हिंसा करने का प्रयत्न करेगा। लेकिन कुछ उद्योग ही ऐसे हैं जो अहिंसा बढ़ाते हैं। जो मनुष्य स्वभाव से ही अहिंसक है वह ऐसे चन्द उद्योगों को छोड़ ही देता है। उदाहरणार्थ, यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि वह कसाई का धंदा करेगा। मेरा मतलब यह नहीं है कि मांसाहारी कभी अहिंसक हो ही नहीं सकता। मांसाहार दूसरी चीज है। हिन्दुस्तान में थोड़े से ब्राह्मण और वैश्यों को छोड़कर बाकी के सभी तो मांसाहारी हैं। लेकिन फिर भी वे अहिंसा को परम धर्म

मानते हैं। यहां हम मांसाहार को हिंसा का विचार नहीं कर रहे हैं। जो मनुष्य मांसाहारी हैं वे सारे हिंसावादी नहीं हैं। मैं यह कैसे कह सकता हूं कि मांसाहारी मनुष्य अहिंसक नहीं होता ? एंड्रूज से बढ़कर अहिंसक मनुष्य कहां मिलेगा। लेकिन वह भी तो पहले मांसाहारी था। बाद में उसने मांसाहार छोड़ दिया। लेकिन जब मांसाहारी था तब भी अहिंसक तो था ही। छोड़ने पर भी। मैं जानता हूं कि कभी-कभी जब वह अपनी बहन के पास चला जाता था तब मांस खा लेता था। लेकिन उससे उसकी अहिंसा थोड़े ही कम हो जाती थी ? इसलिए यहां हमारी अहिंसा की व्याख्या परिमित है। हमारी अहिंसा मनुष्यों तक ही मर्यादित है।

'लेकिन मांसाहारी अहिंसक भी बाज चीज तो छोड़ ही देता है। जैसे वह शिकार कभी नहीं करेगा। यानी जिनसे हिंसा का विस्तार बढ़ता जाता है उन प्रवृत्तियों में वह कभी नहीं पड़ेगा। वह युद्ध में नहीं पड़ेगा। युद्ध के शस्त्रास्त्र बनाने के कारखानां में काम नहीं करेगा। उनके लिए नए-नए शस्त्रों की खोज नहीं करेगा। मतलब वह ऐसा कोई उद्योग नहीं करेगा, जो हिंसा पर आश्रित है और हिंसा को बढ़ाता है।

काफी उद्योग ऐसे भी हैं जो जीवन के लिए आवश्यक हैं लेकिन वे बिना हिंसा के चल नहीं सकते। जैसे खेती का उद्योग है। ऐसे उद्योग अहिंसा में आ जाते हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि उनमें हिंसा की गुंजाइश नहीं है। अथवा वे बिना हिंसा के चल सकते हैं। लेकिन उनकी बुनियाद हिंसा नहीं है। और वे हिंसा को बढ़ाते भी नहीं हैं। ऐसे उद्योगों में होने वाली हिंसा हम घटा सकते हैं। और उसे अपरिहार्य हिंसा की हद तक ले जा सकते हैं। क्योंकि आखिर अहिंसा हमारे हृदय का धर्म है। हम यह नहीं कह सकते कि किसी उद्योग का अहिंसा से अनिवार्य सम्बन्ध है। वह तो हमारी भावना पर निर्भर है। हमारा हृदय अहिंसक होगा तो हम अपने उद्योग में भी अहिंसा लायेंगे।

- 'अहिंसा केवल बाह्य वस्तु नहीं है। मान लीजिये एक मनुष्य है, काफी कमा लेता है और सुख से रहता है, किसी का कर्ज वगैरह नहीं करता, लेकिन हमेशा दूसरों की इमारत और मिल्कियत पर

दृष्टि रखता है, एक करोड़ के दस करोड़ करना चाहता है तो मैं उसे अहिंसक नहीं कहूंगा। ऐसा कोई धंधा नहीं जिसमें हिंसा हो ही नहीं। लेकिन चंद धन्धे ऐसे हैं जो हिंसा को बढ़ाते हैं अहिंसक मनुष्य को उन्हें वर्ज्य समझना चाहिए। दूसरे अनेक धन्धों में यदि हिंसा के लिए स्थान है तो अहिंसा के लिए भी है। हमारे दिल में अगर अहिंसा भरी हुई है तो हम अहिंसक वृत्ति से उन धन्धों को करें। हम उन उद्योगों का दुरुपयोग करें यह बात दूसरी है।

'मेरे पास कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं है। परन्तु मेरा ऐसा विश्वास है कि हिन्दुस्तान कभी सुखी रहा है। उस जमाने में लोग अपने-अपने धन्धे परोपकार बुद्धि से करते थे। उसमें से उदर निर्वाह तो ले लेते थे, लेकिन धन्धा समाज के हित का ही होता था। मेरा कुछ ऐसा ख्याल है कि जिन्होंने हिन्दुस्तान के गाँव का निर्माण किया, उन्होंने समाज का संगठन ही ऐसा किया जिसमें शोषण और हिंसा के लिए कम से कम स्थान रहे। उन्होंने मनुष्य के अधिकार का बिचार नहीं किया, उसके धर्म का बिचार किया। वह अपनी परम्परा और योग्यता के अनुसार समाज के हित का उद्योग करता था। उसमें से उसे रोटी भी मिल जाती थी यह दूसरी बात थी। लेकिन उसमें करोड़ों को चूसने की भावना नहीं थी। लाभ की भावना के बदले धर्म की भावना थी। वे अपने धर्म का आचरण करते थे रोटी तो यों ही चली आती थी। समाज की सेवा ही मुख्य चीज थी। उद्योग करने का उद्देश व्यक्तिगत मुनाफा नहीं था। समाज का संगठन ही ऐसा था। उदाहरणार्थ, गाँव में बढ़ई की जरूरत होती थी। वह खेती के लिए औजार तैयार करता था। लेकिन गाँव उसे पैसे नहीं देता था। देहाती समाज पर यह बन्धन लगा दिया था कि उसे अनाज दिया जाये। उसमें भी हिंसा काफी हो सकती थी। लेकिन सुव्यवस्थित समाज में उसे न्याय मिलता था। और किसी जमाने में समाज सुव्यवस्थित था ऐसा मैं मानता हूं। उस वक्त इन उपयोगों में हिंसा नहीं थी।

'मेरे इस विश्वास के काफी सबूत हैं। अपने छुटपन में जब मैं काठियावाड़ के देहातों में जाता था तो लोगों में तेज था। उनके शरीर हट्टे-कट्टे थे। आज वे निस्तेज हो गये हैं। घर में दो बरतन भी नहीं रहे। इस पर से मुझको ऐसा लगता है कि किसी वक्त हमारा

समाज सुव्यवस्थित था। उस वक्त उसका जीवन अहिंसक था। अहिं-सक जीवन के लिए आवश्यक सब उद्योग अच्छी तरह चलते थे। अहिंसक जीवन के लिए जितने उद्योग अनिवार्य हैं उनका अहिंसा से सीधा सम्बन्ध है।' इसी में शरीर श्रम आ जाता है। मनुष्य अपने श्रम से थोड़ी सी ही खेती कर सकता है लेकिन अगर लाखों बीघे जमीन के दो चार ही मालिक हो जाते हैं तो बाकी के सब मजदूर हो जाते हैं यह बगैर हिंसा के नहीं हो सकता। अगर आप कहेंगे कि वह मजदूर नहीं रक्खेंगे, यंत्रों से काम लेंगे, तो भी हिंसा आ ही जाती है। जिसके पास एक लाख बीघा जमीन पड़ी है, उसे यह घमण्ड तो आ ही जाता है कि इतनी जमीन का मालिक हूं। धीरे-धीरे उसमें दूसरों पर सत्ता कायम करने की लालच आ जाती है। यंत्रों की मदद से वह दूर-दूर के लोगों को भी गुलाम बना लेता है। और उन्हें इसका पता भी नहीं होता कि वे गुलाम बन रहे हैं। गुलाम बनाने का ऐसा एक खूबसूरत तरीका इन लोगों ने ढूंढ़ लिया है। जैसे फोर्ड है। एक कार-खाना बनाकर बैठ गया है चन्द आदमी उसके यहाँ काम करते हैं। लोगों को प्रलोभन दिखाता है, विज्ञापन निकालता है। उसने हिंसक प्रवृत्ति का ऐसा मोहक रास्ता निकाल लिया है कि हम उसमें जाकर फंस जाते हैं। और भस्म हो जाते हैं। हमें इन बातों का विचार करना है कि क्या हम उसमें फंस जाना चाहते हैं या उससे बचे रहना चाहते हैं।

"अगर हम अपनी अहिंसा को अविच्छिन्न रखना चाहते हैं और सारे समाज को अहिंसक बनाना चाहते हैं तो हमें उसका रास्ता खोजना होगा। मेरा तो यह दावा रहा है कि सत्य, अहिंसा वगैरा जो यम हैं वे ऋषि मुनियों के लिये नहीं हैं। पुराने लोग मानते हैं कि मनु ने जो यम बतलाये हैं वे ऋषि-मुनियों के लिये हैं, व्यवहारी मनुष्यों के लिये नहीं हैं। मैंने यह विशेष दावा किया है कि अहिंसा सामाजिक चीज है, केवल व्यक्तिगत चीज नहीं है। वह पिण्ड भी है और ब्रह्माण्ड भी। वह अपने ब्रह्माण्ड का बोझ अपने कन्धों पर लिये फिरता है। जो धर्म व्यक्ति के साथ खतम हो जाता है वह मेरे काम का नहीं है। मेरा यह दावा है कि सारा समाज अहिंसा का आचरण कर सकता है और आज भी कर रहा है। मैंने इसी

विश्वास पर चलने की कोशिश की है और मैं मानता हूं कि मुझे उसमें निष्फलता नहीं मिली।

'मेरे लिये अहिंसा समाज के प्राण के समान चीज है। वह सामाजिक धर्म है, व्यक्ति के साथ खतम होने वाला नहीं है। पशु और मनुष्य में यही तो भेद है। पशु को ज्ञान नहीं है, मनुष्य को है। इसलिये अहिंसा उसकी विशेषता है। वह समाज के लिये भी सुलभ होनी चाहिये। समाज उसी के बल पर टिका है। किसी समाज में उसका कम विकास हुआ है किसी में वेशी हुआ है। लेकिन उसके बिना समाज एक क्षण भी नहीं टिक सकता।"

(सर्वोदय, जुलाई १६४०)

उक्त भाषण से गांधी जी की अहिंसा की रूपरेखा स्पष्ट हो जाती है। उनकी अहिंसा की व्याख्या मर्यादित थी। वह मनुष्यों तक ही उसे सीमित न रखते थे। मनुष्य समाज में बढ़ी हुई हिंसा के निराकरण के द्वारा अहिंसक समाज की स्थापना करके विश्व में शान्ति स्थापित करना ही उनका उद्देश्य था। किन्तु इसका यह मतलब नहीं है कि वे पशुओं की हिंसा के हामी थे, या उस ओर से बिल्कुल उदासीन थे। यहां इस संबंध में उनके जीवन की कुछ घटनाएं दे देना अप्रासंगिक न होगा। उनमे गांधी जी का दृष्टिकोण साफ हो जाता है। सबसे प्रथम मांसाहार को ही लेना उचित होगा। क्योंकि अपने उक्त भाषण में उन्होंने उसकी चर्चा की है जो भ्रम पैदा करने वाली है।

गांधी जी और मांसाहार

गांधी जी का परिवार परम वैष्णव था। फिर गुजरात में जैन संप्रदाय का जोर था। अतः गांधी जी जन्म से तो निरामिषभोजी ही थे। किन्तु स्कूल के एक साथी की संगति से मांसाहार को पौष्टिक और शक्तिदायक समझकर उन्होंने एक-दो बार उसको खाने की चेष्टा की किन्तु संस्कारवश ग्लानि होने से तथा माता-पिता के भय से खा नहीं सके। जब विलायत गये तब तो उनकी मां ने मांस न खाने की प्रतिज्ञा ही दिला दी। अतः विलायत में मित्रों के परेशान करने पर भी उन्होंने मांस खाना स्वीकार नहीं किया और कष्ट उठाकर भी अन्नाहार पर ही दृढ़ रहे। फिर तो वे कट्टर शाकाहारी हो गये और

शाकाहार का प्रचार करने लगे। एक बार दक्षिण अफ्रीका में एक शाकाहारी भोजनालय चलाने के लिये उन्हें एक हजार पोण्ड अपने पास से भरना पड़ा था। खैर, यह तो पैसे पर ही बीती।

किन्तु एक बार बा के बीमार हो जाने पर निरामिषाहार के पीछे जो खतरा उठाया वह उनकी दृढ़ता का परिचायक है। बात यह थी कि बा की दशा अत्यन्त कमजोर थी और अंग्रेज डाक्टर मांस का शोरवा देना आवश्यक समझता था। किन्तु गांधी जी इसके लिये तैयार न थे। आखिर डाक्टर ने कह दिया—'आपका यह सिद्धान्त मेरे घर नहीं चल सकता। आपकी पत्नी जब तक मेरे यहां है तब तक मैं मांस अथवा जो कुछ देना मुनासिब समझूंगा। जरूर दूंगा। अगर आपको यह मंजूर नहीं है तो आप अपनी पत्नी को यहाँ से ले जाइए। अपने ही घर में मैं इस तरह उन्हें नहीं मरने दे सकता।"

गांधी जी ने बा से पूछा तो वह बोलीं —'मैं मांस का शोरवा नहीं लूंगी। यह मनुष्य देह बार-बार नहीं मिलती। मैं मर जाऊँ तो परवाह नहीं पर अपनी देह को भ्रष्ट न होने दूंगी।"

रात का समय था, पानी बरसता था। बा का जीवन खतरे में था। मगर गांधी जी पत्नी को उठाकर चल ही दिए। डाक्टर उन पर क्रुद्ध होता ही रह गया। फिनिक्स पहुंचने के दो-तीन दिन बाद एक स्वामी जी गांधी जी के घर पधारे। उन्होंने भी मांसाहार की निर्दोषता पर एक व्याख्यान झाड़ डाला और मनुस्मृति के श्लोक सुनाये। किन्तु पति-पत्नी अपने विश्वास पर दृढ़ रहे।'

गांधी जी की इस दृढ़ता ने ही उन्हें नर से नारायण बना दिया। वे जिस बात को अपनाते थे दृढ़ता के साथ अपनाते थे और कोई कितना ही उसके विरुद्ध कहे जब तक उन्हें जंच नहीं जाता था तब तक उसे छोड़ते नहीं थे।

स्वयं अपने लिये उन्होंने निरामिष भोजन को ही उचित समझकर स्वीकार किया और जीवन पर्यन्त कठोर सच्चाई के साथ उसे निबाहा। किन्तु एक अहिंसक के लिये निरामिषाहारी होना वे आवश्यक नहीं समझते थे ऐसा लगता है। एक बार उन्होंने स्व० श्री एन्डरूज के विषय में कहा था—'जो मनुष्य मांसाहारी हैं वे सारे हिंसावादी नहीं हैं। मैं यह कैसे कह सकता हूं कि मांसाहारी मनुष्य

अहिंसक नहीं होता। एण्डरसन से बढ़कर अहिंसक मनुष्य कहाँ मिलेगा। लेकिन वह भी तो पहले मांसाहारी था। मांस छोड़ने पर भी मैं जानता हूं कि कभी-कभी जब वह अपनी बहन के पास चला जाता था या डाक्टर लोग आग्रह करते थे तो मांस खा लेता था। लेकिन इससे उसकी अहिंसा थोड़े ही कम हो जाती थी।'

गांधीजी के इस कथन को लेकर निरामिषाहारियों में काफी चर्चा चली थी। तब मैंने उनके अभिप्राय का स्पष्टीकरण करने के लिये गांधी जी को एक पत्र लिखा था। उसका उत्तर मुझे श्री किशोरीलाल मश्रुवाला ने इस प्रकार लिखा था—'आपका पत्र पू० बापूजी ने पढ़ा। सर्वोदय का लेख उनके भाषण की रिपोर्ट है उनका लेख नहीं है। इस तरह वे कह सकते हैं कि वे उसके लिये जिम्मेदार नहीं हैं। पशुहिंसा हिंसा ही है। और मांसाहार में हिंसा होती है। यह उन्होंने कई बार लिखा है। इसलिये वास्तव में गलतफहमी के लिये कोई स्थान नहीं है। सर्वोदय के लेख में जिस संबंध में कहा गया है वहाँ मानव हिंसा और मानव व्यवहारों का सवाल है। निरामिषाहारी या छोटे जीवों की हिंसा न करने वाला व्यक्ति मानव हिंसा से मुक्त रहता ही है ऐसी बात नही है। और दूसरी तरफ देखें तो मांसाहार करनेवालों में कई मानव व्यवहारों में शुद्ध अहिंसा से बरतने वाले पाये जाते हैं।

जब निरामिषाहार हमारे लिये सिर्फ जन्मप्राप्त आदत का विषय होता है तब उसकी घृणा यह अहिंसा के लक्षण की अपेक्षा आदत का ही परिणाम अधिक रूप में होता है। आदतन निरामिषाहारी और आदतन मांसाहारी की मनोवृत्तियों में अपनी आदत के क्षेत्र के बाहर कहाँ तक अहिंसा पाई जाती है यह सवाल विचार करने योग्य है। संभव है कि अहिंसा के विकास के लिये निरामिषाहारी की भूमिका अधिक तैयार हो। पर यह प्रस्तुत नहीं है।

यह पत्र पू० बापू को पढ़ाकर नहीं भेजा है। वे बहुत कार्यमग्न हैं। इसलिए उन्हें सब विचारों के लिये जिम्मेवार न समझा जावे।

२-११-४१
वर्धा

आपका
कि० घ० मशरूवाला

इस पत्र के उत्तर के प्रत्युत्तर में उन्होंने लिखा था—

'मांसाहार करने से अहिंसा के एक बड़े क्षेत्र में अवश्य वह कम होती है। मांसाहार न करने या छोड़ने से एक क्षेत्र बढ़ता है।"

असल में गांधी जी ऐसे युग में पैदा हुए जब भारत साम्राज्य-वाद की चक्की में पीसा जा रहा था। दासता की बेड़ियां उसके मन वचन और कर्म पर पड़ी हुई थीं। अपने ही देश में जब भारतीयों की दुर्दशा थी तब विदेशों का तो कहना ही क्या है। शर्तबन्द कुली प्रथा के अनुसार जो भारतीय दक्षिण अफ्रीका ले जाये जाते थे उनकी पशु से भी अधिक दुर्दशा महात्मा जी ने अपनी आँखों से देखी थी। अतः उन्होंने मानवीय क्षेत्र को ही अपने अहिंसात्मक प्रयोगों के लिए चुना। यद्यपि स्वयं वे साँप तक को नहीं मारते थे।

एक बार एक डाक्टर के पत्र का उत्तर देते हुए उन्होंने 'यंग इडिया' में लिखा था—'मैं जिस नीति पर चलता हूं वह नीति बानर, घोड़ा और भेड़ ही नहीं, शेर, चीता और सांप बिच्छू, सबसे नाता और सम्बन्ध रखने की मुझे न केवल इजाजत देती है, आज्ञा करती है, चाहे ये मेरे नातेदार मुझे अपना सम्बन्धी न समझे हों। जिन नीति के कठिन सिद्धान्तों को मैं स्वयं मानता हूं तथा जिनको मानना मैं हर व्यक्ति का कर्तव्य समझता हूं उनके अनुसार यह एकतरफा नातेदारी निवाहने का धर्म आवश्यक है।'

किन्तु साँप, बिच्छू और शेर चीते के साथ एकतरफा नातेदारी निबाहने का धर्म आवश्यक समझते हुए भी और उसे हर व्यक्ति का कर्तव्य मानते हुए भी यदि कभी उपद्रवी पशुओं की ओर से कोई कठि-नाई पैदा की गई तो उन्होंने उनके वध का समर्थन किया। किन्तु उससे जब उन्हें हिंसा बढ़ती हुई प्रतीत हुई तो दूसरे लोगों को उन्होंने वैसा करने की सलाह नह दी।

एक बार अहमदाबाद में किसी सेठ ने कुछ कुत्तों को मरवा डाला था। गांधी जी ने उसके इस कार्य का समर्थन करते हुए लिखा था—'पगले कुत्तों का नाश करना तो छोटी हिंसा है। जंगल में रहने वाले दया के सागर मुनि पगले कुत्तों का नाश नहीं करते। उनके पास दूसरी ही रामबाण दवा है। वे अपने कृपा कटाक्ष से कुत्तों के पागल-पन का नाश कर देंगे। किन्तु वे गृहस्थाश्रमी शहराती सज्जन क्या करें, जिनके ऊपर शहर की रक्षा और बालकों की रक्षा का धर्म पड़ा हुआ है। और जिनमें मुनि के आदर्श गुण तो नहीं हैं, किन्तु कुत्तों को मारने की शक्ति है। अगर मारते हैं तो पाप करते हैं, नहीं मारते हैं

तो महापाप करते हैं। वे कुत्तों को मरवाने का अल्प पाप करके उनकी अपेक्षा महत् पाप से बचते हैं।'

आगे वे लिखते हैं—

'इस हिंसामय जगत में अहिंसारूपी तीखी तलवार की धार पर चलना सहज काम नहीं है।······इस धर्म के पालने में कितनी बार हिंसा को अहिंसा के नाम से पहचानना पड़ता है।'

'बछड़ा वध' प्रकरण तो गांधी जी के जीवन की एक खास घटना है। आश्रम के एक अपंग बछड़े को अत्यन्त कष्ट में देखकर डाक्टर की सम्मति से उन्होंने इंजेक्शन देकर उसका अन्त करा दिया था। इस पर खूब बाबेला मचा था। हिन्दू तो इसलिए रुष्ट थे कि गांधी जी ने गोहत्या करा डाली। जैन धर्म में भी 'किसी दुःखी प्राणी को इसलिए मार डालना कि वह दुःख से छूट जायेगा' सर्वथा अनुचित बतलाया है। क्योंकि जो पुनर्जन्म मानते हैं वे एक जीवन के अन्त के साथ ही दुःख का अन्त कैसे मान सकते हैं? सम्भव है दूसरा जीवन इससे भी दुःखपूर्ण हो। अतः दुःखी को विना मारे ही उसका दुःख हरने का शक्ति भर प्रयत्न करना ही उचित है, न कि उसकी जान ले लेना। यह प्रकरण बहुत दिनों तक चला और गांधी जी को काफी लिखना पड़ा। उनका समाधान का निष्कर्ष उनके ही शब्दों में इस प्रकार था—

'स्वार्थ के वश होकर या क्रोध में किसी भी जीव को जो कष्ट दिया जाये या उसके अनिष्ट या प्राणहरण की इच्छा भी की जाये तो वह हिंसा है। निःस्वार्थ बुद्धि से, शान्त चित्त से, किसी भी जीव के भौतिक या आध्यात्मिक भलाई के लिए उसे जो दुःख दिया या उसका प्राणहरण किया जाय वह शुद्ध अहिंसा हो सकता है। प्रत्येक दृष्टान्त का विचार करके ही यह कहा जा सकता है कि ऐसे दुःख या प्राणहरण कब अहिंसक कहे जायेंगे? अन्त में अहिंसा की परीक्षा का आधार भावना पर रहता है।'

गांधी जी के इस निष्कर्ष से भी जनता का समाधान नहीं हुआ उनके पास लोगों ने उलझन भरे पत्र भेजना जारी रक्खा। कई समस्यायें, शीर्षक से उन्होंने कतिपय उलझनें और उनका जो समाधान दिया वह यहाँ दिया जाता है—

१. उल०—मेरा लड़का चार महीने का है वह जन्म के पन्द्रहवें दिन से बीमार पड़ा है। कितने ही डाक्टरों और वैद्यों की दवा करायी, जरा भी आराम नहीं है। डाक्टर को तथा मुझे जान पड़ता है कि यह लड़का जियेगा नहीं। मैं बहुत बड़ा कुटुम्ब वाला हूं, दुःखी हूं, सिर पर कर्ज का बड़ा भार है मुझसे उस लड़के का दुःख नहीं देखा जाता। मैं क्या करूं ?

समा०—करोड़ों डाक्टर उस बच्चे के जीने की आशा छोड़ दें तो भी उस बालक के प्राण नहीं लिए जा सकते। क्योंकि उसकी सेवा करने की शक्ति न तो आप खो बैठा है और न बालक ही ऐसी स्थिति में है कि उसकी सेवा न की जा सके। जबकि सेवा अशक्य हो और उस प्राणहरण में अपना कोई स्वार्थ न हो, तभी प्राण-हरण किया जा सकता है। यहाँ सेवा शक्य है मुझे तो यहां आप का स्पष्ट धर्म जान पड़ता है लड़के की सेवा करते ही जाना।

२. उल०—मैं गोशाला का मंत्री हूं। इसमें लगभग ५०० पशु हैं। वे बिल्कुल बेकार हैं खर्च अधिक पड़ता है साल में लगभग ३५० से ४०० पशु मौत के किनारे पहुंचे रहते हैं उनकी ठीक वही हालत है जैसा कि आपने वर्णन किया है, और अन्त में मर तो जाते ही हैं अब मैं क्या करूं ?

समा०—ऊपर के पत्र से यह स्पष्ट है कि खर्च का अधिक होना अहिंसा की दृष्टि से प्राण हरण का कारण कभी नहीं हो सकता और अगर रोज एक पशु आश्रम के बछड़े के समान बुरी स्थिति में रहता है तो गोशाला बन्द कर देनी चाहिए। आदि।

३. उल०—हमारे गाँव के नजदीक ढोरों का चरागाह है। उसमें पांच सात हजार हरिण हैं वे हमारी कपास के अंकुर खा जाते हैं। हम बहुत हैरान हैं, ठाकरा लोगों को रक्खें तो वे इन्हें मार सकते हैं मगर वे तो इनका मांस भी खाते हैं। हमारे जैसे लोगों को आप क्या सलाह देते हैं। इसके अलावा खापरडा (एक कीड़ा) हमारे बीज और अनाज खा जाते हैं। खेत में अगर आग जलावें तो उसमें ये आ पड़ते हैं। यों हमारे अनाज की रक्षा होती हो तो हमें आग जलानी चाहिए या नहीं ?

समा०—यह प्रश्न ऊपर के दो प्रश्नों से भिन्न जाति का है। यह प्रश्न

बन्दर वाले' प्रश्न के सम्बन्ध में है, बछड़े के सम्बन्ध में नहीं। हिंसा के मार्ग में किसी का भी नेतृत्व करने में मैं असमर्थ हूं। यह कोई तीसरा आदमी नहीं बतला सकता कि किस हद तक किसी को हिंसा करना चाहिये। किन्तु सभी को अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अपना रास्ता ढूंढ़ना चाहिये। सामान्य रीति से यों कहा जा सकता है कि बन्दर को मारना मैं शायद अनिवार्य मानूं तो इससे दूसरों को भी हरिण को मारने के लिये तैयार होना, न्याय बुद्धि नहीं, किन्तु अज्ञानमय अनुकरण है। फिर बंदर को मारने का निर्णय मैं कर ही नही सका हूं। और यह भी नहीं देखता हूं कि मैं इस निर्णय पर जल्दी आ सकूंगा। ऐसे निर्णय से जहां तक दूर रहा जा सके रहने का मेरा प्रयत्न आज है और हमेशा रहेगा। इसके अलावा हरिण को दूर रखने के कई उपाय मिल सकते हैं, जो बन्दर के समान बहुत मुसीबत से हाथ में आ सकने वाली जाति के सम्बन्ध में अशक्य हो पड़ते हैं। यह तो हर एक किसान क्षण-क्षण में अनुभव करता है कि खेती के लिए छोटे-छोटे कीड़ों का नाश अनिवार्य है। इससे आगे आकर इस वस्तु को ले जाना मेरी शक्ति से बाहर है। हिंसा करने से जिस अंश तक बचना सम्भव हो उस अंश तक बचना सबका धर्म है— यह अवश्य कहा जा सकता है।

गांधी जी के समाधान का अन्तिम वाक्य—'हिंसा करने से जिस अंश तक बचना शक्य हो उस अंश तक बचना सबका धर्म है।' सब समस्याओं और उलझनों का समुचित समाधान है। तथा हिंसा और अहिंसा की परीक्षा का आधार मनुष्य की भावना है। किन्तु वह भावना ज्ञानमूलक होनी चाहिये। यही जैनधर्म का भी कहना है और इसी के आधार पर जैन मुनियों ने सर्वसाधारण में अहिंसा का प्रचार करके हिंसकों को भी अहिंसा का पाठ पढ़ाया था। गांधी जी ने भी अपने जीवन में यही किया। अहिंसा पर उनकी श्रद्धा किसी जैन मुनि से कम नहीं थी। वे बोलते और लिखते भी उसी टोन में थे। किन्तु ऐसी

---

१. बन्दरों ने आश्रम के फल झाड़ और शाक भाजी को नष्ट करना शुरू कर दिया था उस समय गांधी जी ने इस उपद्रव से बचने का उपाय पाठकों से पूछा था।

बातें भी कह जाते थे जिनका मेल उनकी श्रद्धा के साथ नहीं बैठता था। एक बार अल्मोड़ा से एक संन्यासी ने उन्हें लिखा—

'गत १५ अप्रैल के यंग इण्डिया में किसी पत्र प्रेषक को उत्तर देते हुये आपने लिखा है कि यदि साँप भी आप पर आक्रमण करे तो आप उसे मारने की इच्छा न करेंगे। मेरे ख्याल से यह अनुचित होगा। क्योंकि एक तो इस तरह आप मानो स्वयं आत्मघात करेंगे, और दूसरे उस विषैले जन्तु को वैसे ही छोड़कर आप दूसरे लोगों को हानि पहुंचाने में कारण होंगे। दूसरा उदाहरण लीजिये—किसी गृहस्थ के घर में साँप निकलता है वह उसे मारता नहीं, बल्कि अपने घर से बाहर छोड़ देता है। फलत: वह साँप निश्चय ही दूसरे किसी के घर में घुसकर उसमें रहने वालों को हानि पहुंचावेगा। और निश्चय ही इसकी ज़िम्मेवारी उसी शख्स के सिर पर होगी, जिसने दया की मिथ्या कल्पना के कारण ऐसे भयंकर जन्तु को जिन्दा छोड़ दिया। और भी कितने ही जानवर पशु और जन्तु हैं जो मनुष्य को हानि पहुंचाते हैं या बीमारियाँ फैलाते हैं। सचमुच यदि ऐसे प्राणियों के नाश को हिंसा कहा जाये तो वह उस हिंसा से कम होगी जो इनके जिन्दा रहने से होती है। खैर, मान लिया जाये कि यदि आदमी अपनी जान बचाने के लिये ख्याल से ऐसे भयंकर जानवरों को मारे तो वह हिंसा कही जाय। परन्तु यदि अनेकों कीमती प्राणों को बचाने के लिये मारा जाय तो वह कदापि हिंसा नहीं कही जानी चाहिये। आखिर प्रत्येक कार्य का निर्णय उद्देश्य को देखकर होता हैं। जब वही उच्च तथा शुद्ध हो तब वह नाश या हिंसा नहीं कर्तव्य का रूप धारण कर लेता है। मैं चाहता हूं कि आप इस प्रश्न का उत्तर 'यंग इण्डिया' में दें तो बड़ा अच्छा हो।'

इसका उन्होंने निम्न उत्तर दिया—

'संन्यासी का प्रश्न सनातन है। इसमें शक नहीं कि वह बड़ा जोरदार भी है। अगर उसमें यह शक्ति न होती तो प्राचीनकाल से जो हत्या चली आ रही है वह जारी नहीं रहती। बहुत कम लोग दुष्टतापूर्वक निष्ठुरता का काम करते हैं। इतिहास में वर्णित घोर से घोर और निर्घृण अपराध या तो धर्म या इसी प्रकार के अन्य उदात्त ध्येय की ओट में किये गये हैं। पर मेरे ख्याल से तो उस हत्या से

हमारी दशा जरा भी नहीं सुधरी है। फिर भले ही वह हत्या धर्म जैसे सर्वोच्च आदर्श के नाम पर हुई हो। बेशक, किसी न किसी प्राणी को किसी न किसी रूप में हिंसा तो अनिवार्य है। जीव जीवों पर जीते हैं। इसलिए और महज इसीलिये बड़े-बड़े दृष्टाओं ने उस स्थिति को मोक्ष कहा है जिसमें जीवन शरीर से युक्त हो, उस शरीर से, जिसका पालन संवर्धन करने के लिए हत्या या हिंसा अनिवार्य है। और मनुष्य के लिये इसी शरीर में रहते हुए उस पद की आशा करना असम्भव भी नहीं, यदि वह हिंसा की मात्रा घटाकर कम से कम कर दे, जैसा कि वह निरामिषाहारी होकर कर सकता है वह जितना ही जान बूझ कर तथा बुद्धिपूर्वक अपने आपको ऐसी हिंसा से दूर रक्खेगा जिसमें अपने निर्वाह के लिये दूसरे प्राणियों की हत्या होती है उतना ही वह सत्य और परमात्मा के अधिक नजदीक होगा। संभव है मनुष्य जाति ऐसा जीवन शायद पसन्द करेगी जिसमें कुछ भी आकर्षण न दिखाई दे। परन्तु इससे मेरे कथन की सत्यता को बाधा नहीं पहुंचती। वे लोग, जो कि पूर्णतः ऐसा निस्वार्थ जीवन व्यतीत कर रहे हैं और प्राणिमात्र के प्रति करुणामय व्यवहार करते हैं हमें परमात्मा का माहात्म्य समझने में सहायता देते हैं। वे मनुष्य जाति को ऊंचा उठाते हैं और उसके आदर्शपथ को आलोकित करते हैं। उस जीवन को नष्ट करने का हमें कोई अधिकार नहीं, जिसके बनाने की शक्ति हममें न हो।

मुझे यह दलील नास्तिक सी प्रतीत होती है कि परमात्मा ने कुछ प्राणियों को इसलिये बनाया कि वे मनुष्य के द्वारा मारे जायें। जिन्हें मनुष्य महज आनन्द के लिये या अपने शरीर पोषण के लिये मारता रहे जो कि निश्चय ही किसी क्षण नष्ट होने को है। हमें पता नहीं कि प्रकृति के दरबार में उन भयंकर समझे जाने वाले प्राणियों का क्या स्थान कहा है ? पर हिंसा द्वारा प्रकृति के कानूनों को हम कभी न समझ पायेंगे। ऐसे पुरुषों के वर्णन हमारे पास मौजूद हैं जिनकी दया मनुष्य को व्याप्त कर उसे लांघ गई थी और जो भयंकर हिंस्र पशुओं के बीच रहते थे। समस्त जीवनसृष्टि में कोई ऐसा आन्तरिक सम्बन्ध जरूर है कि जिसके कारण शेर, सिंह, बाघ और सांपों ने उन मनुष्यों को कोई उपद्रव नहीं पहुंचाया जो निर्भय होकर उन पशुओं के मित्र बनकर उनके पास गये थे।

'यह दलील सदोष है कि यदि मैं किसी विषैले सांप को नहीं मारूंगा तो वह जरूर ही अनेकों आदमियों और स्त्रियों की जान का ग्राहक होगा। यह मेरे कर्तव्य का अंग नहीं है कि मैं तमाम विषैले जन्तुओं को ढूंढ़ ढूंढ़ कर मारता फिरूं। और न मुझे यह मान लेने की जरूरत है कि मुझे मिलनेवाले विषैले सांप को यदि मैं नहीं मार डालूंगा तो वह किसी राहगीर को जरूर ही डस लेगा। उस सांप और मेरे पड़ोसी के बीच मुझे न्यायकर्ता नहीं बन जाना चाहिए। यदि मैं अपने पड़ौसियों के साथ वैसा ही सलूक करूं कि जैसे सलूक की आशा मैं उनसे करता हूं, यदि मैं उनको किसी ऐसे बड़े खतरे में नहीं डालता जिसमें कि मैं हूं, और यदि मै उन्हें नुकसान पहुंचा कर अपना भला नहीं कर रहा हूं तो मैं समझूंगा कि मैंने अपने पड़ौसियों के प्रति अपना कर्तव्य पूरा कर लिया इसलिए जैसा कि अक्सर किया जाता है मैं उस सांप को अपने पड़ौसी के अहाते में नहीं छोड़ूंगा। अधिक से अधिक मैं यह कर सकता हूं कि सांप को जितना एक तरफ छोड़ा जा सके उतना छोड़कर मैं अपने पड़ौसियों को इस बात की सूचना कर दूं। मैं जानता हूं इससे मेरे पड़ौसियों को न तो कोई आराम मिलेगा और न रक्षा ही। पर हम तो मृत्यु के मुख में खड़े रहकर सत्य की राह ढूंढ़ रहे हैं। शायद हमारे जीवन में कदम-कदम पर जान का खतरा है। क्योंकि इस खतरे का ज्ञान होने पर तथा हमारे जीवन की अनित्यता का खयाल होते हुए भी समस्त जीवों के स्रोत उस मूल-भावना के प्रति हमारी उदासीनता आश्चर्यजनक है। हमारे अहंकार में वह कुछ ही कम है।"

"इस उत्तर से मुझे सन्तोष नहीं है, जो मैं संन्यासी को दे रहा हूं। उनके पत्र को जो कि हिन्दी में लिखा हुआ है, मुझे ज्ञात होता है कि वे स्वयं सत्य की खोज में हैं। इसीलिये मुझे उनके प्रश्न का उत्तर इस तरह प्रकाश्यरूप से देना पड़ रहा है। स्वयं मेरी दशा तो बड़ी दयनीय है, प्राणीमात्र की किसी भी रूप में हिंसा देखकर मेरी बुद्धि तो बलवा कर देती है। पर मेरा हृदय अभी इतना मजबूत नहीं हो पाया जिससे मैं उन प्राणियों को अपना मित्र बना लूं जिन्हें अनुभव ने हिंस्र साबित किया है। इसीलिए प्रत्यक्ष अनुभव से पैदा होनेवाले विश्वास का निर्भ्रान्त माप मेरे पास नहीं है। यह हालत तब तक बरा-

बर बनी रहेगी जब तक कि मैं सांप बाघ आदि प्राणियों से डरने योग्य कायर बना रहूंगा।"

गांधी जी का उक्त उत्तर एक सच्चे अहिंसक के अनुरूप ही है। इसमें संदेह नहीं कि अहिंसक जीवन बिताना तलवार की पैनीधार पर चलना है। किन्तु हम लोग इसी भय से उस पर चलने का अभ्यास न करके उक्त प्रकार की बाधाएं खड़ी करके ही उनसे छुट्टी पा लेते हैं। यदि अभ्यास किया जाये तो बहुत से प्रश्न स्वयं हल हो जाएं।

एक बार गांधी जी ने अहिंसा के विषय में जन साधारण की मनोवृत्ति का चित्रण करते हुये लिखा था—

"अहिंसा की चर्चा शुरू हुई नहीं कि कितने लोग बाघ, भेड़िया, सांप, बिच्छू, खटमल, जूं, कुत्ता आदि को मारने न मारने अथवा आलू बैंगन आदि को खाने न खाने की ही बात छेड़ते हैं।

"जान पड़ता है कि इस फेर में पड़कर कि मनुष्येतर प्राणियों को मारना चाहिये या नहीं हम अपने सामने पड़े हुये रोज के धर्म को भूल जाते हुये से लगते हैं। सर्पादि मारने के प्रसंग सबको नहीं पड़ते हैं। उन्हें न मारने योग्य दया या हिम्मत हमने नहीं पैदा की है अपने में रहनेवाले क्रोधादि सर्पों को हमने दया से प्रेम से नहीं जीता है। मगर तो भी हम सर्पादि की हिंसा की बात छेड़कर उभय भ्रष्ट होते हैं। क्रोधादि को तो जीतते नहीं और सर्पादि को न मारने की शक्ति से वंचित रहकर आत्मवंचना करते हैं। अहिंसा धर्म का पालन करने की इच्छा रखने वालों को सांप आदि को भूल जाने की जरूरत है। उन्हें मारने से हाल में न छूट सकें तो इसका दु.ख न मानते हुए, सार्वभौम प्रेम पैदा करने की पहली सीढ़ी के रूप में मनुष्यों को क्रोध द्वेषादि को सहन कर उन्हें जीतने का प्रयत्न करें।

गांधी जी के उक्त उत्तर बड़े ही मार्मिक हैं। उनमें उनकी अहिंसा के प्रति ज्वलन्त श्रद्धा व्यक्त होने के साथ ही साथ मनुष्यों की उस मनोवृत्ति का भी परिचय मिलता है जिसके कारण वे अहिंसा को व्यवहार में लाने के बजाय उसे ऐसे-ऐसे प्रश्न उठाकर उसे टाल देने की ही चेष्टा करते हैं। हिंसक जन्तुओं से प्रतिदिन सबका वास्ता नहीं पड़ता। जीवन में ऐसे प्रसंग क्वचित् ही आते हैं। और जब आते हैं तो अच्छे-अच्छे शिकारियों की भी कभी-कभी सिट्टी भूल जाती है।

भय का भूत एकदम सवार हो जाता है और सबको अपने बचाव की फिक्र पड़ जाती है, फिर भी जब चर्चा छिड़ती है तो सब उन्हें मार डालने की ही बात करते हैं। यथार्थ में यदि मनुष्य निर्भय न हो तो वह शस्त्र लेकर भी कुछ नहीं कर सकता। सशस्त्र प्रतिरोध के लिये भी निर्भय होने की आवश्यकता है। और यदि मनुष्यों में निर्भयता आ जाये तो वे इस तरह का बातूनी जमा खर्च करना भी छोड़ दें। यह ठीक है कि मनुष्य के सामने जीवनरक्षा का प्रश्न मुख्य है। और उसके लिये वह दो मार्ग अपनाता आया है—अपने से कमजोरों को मारना-पीटना सताना और अपने से बलवानों के डर से भागकर अपनी जान बचाना। जिनको वह सता सकता है, मार सकता है उन्हें मारने और सताने से नहीं चूकता। और जिनसे वह भय खाता है, उनका सामना करते हुये भी उसकी नानी मरती है। इस तरह वह डबल हिंसा करता है—एक जगह अत्याचारी बनकर और दूसरी जगह कायर बनकर। ऐसे मनुष्यों को यदि अहिंसा का पाठ पढ़ाया जाता है तो वे अपनी इस कमी को दूर करने के बजाये अहिंसा की ओट में उसे छिपाने की चेष्टा करते हैं और उसका दोष अहिंसा के मत्थे मढ़ते हैं। इसका एक उदाहरण नीचे दिया जाता है—

एक बार एक सज्जन ने गांधी जी को लिखा—

वह यह बात मानते हैं कि जहां तक सरकार से सम्बन्ध है अपने कामों में हमारे लिये अहिंसा का पालन समयानुकूल है। परन्तु क्या हम अपने उन भ्रान्त और निष्ठुर भाइयों से भी उसी अहिंसा का व्यवहार करें जो शान्त कांग्रेस कर्ताओं को भी मारना पीटना उन पर थूकना और मैला फेंकना शुरू करते हैं? आपको यह भी बतला दूं कि कांग्रेस के प्रेमी बहुत हैं और ये भाड़े के गुंड अंगुलियों पर गिनने लायक हैं। और यदि हम जोर जब्र से काम लें तो बात की बात में यह गुंडे-शाही बिलकुल बन्द कर दे सकते हैं। परन्तु हम लोग एक ऐसी संस्था के सदस्य हैं जिसका मूल सिद्धान्त है अहिंसा। उनका यह चिढ़ाना दिन पर दिन बढ़ता ही जाता है और कांग्रेस वालों के लिए शायद किसी दिन अपने नौजवानों को हिंसा के मार्ग से रोकना असंभव हो जायेगा। इसलिए मैं आपसे पूछता हूं कि व्यक्तिगतरूप से अपना बचाव करना क्या अहिंसा तत्त्व के विरुद्ध है? और फिर किन शर्तों पर यह संभव है?'

गांधी जी ने इसका उत्तर देते हुए लिखा—

'जो मन में अहिंसक नहीं रह सकते हैं उन्हें पत्र लेखक को बतलाई हुई स्थिति में भी अहिंसक बने रहने के लिए कोई बाध्य नहीं कर सकता। अहिंसा कांग्रेस का मन्तव्य है सही परन्तु आज अहिंसक बने रहने के लिए किसी को कांग्रेस के मन्तव्य की परवाह नहीं है। हर कांग्रेसवादी जो अहिंसक है वह इसलिए अहिंसक है कि वह दूसरा हो नहीं सकता। इसलिए मेरी जोरदार सलाह है कि किसी कांग्रेस-वादी को मेरे पास अथवा किसी दूसरे कांग्रेसवादी के पास, अहिंसा के प्रश्न पर सलाह लेने की जरूरत नहीं है। सब किसी को अपनी ही जिम्मेवारी पर काम करना होगा। मैंने प्राय: देखा है कि उन्हीं निर्बल मनुष्यों ने, जो अपनी कायरता के कारण, अपनी व आश्रितों की इज्जत की रक्षा नहीं कर सके हैं, कांग्रेस के मन्तव्य की वा मेरी सलाह की आड़ ली है। मैं यहाँ बेतिया के निकट की एक घटना याद करता हूं। उस समय असहयोग जोर पर था। कुछ गांव वाले लूटे गये थे। लुटेरों के हाथ में अपनी पत्नियों और बच्चों और घर का समान छोड़कर वे भाग गये। अपना भार छोड़कर इस तरह भाग जाने की कायरता के लिये जब मैंने उनकी भर्त्सना की तो उन्होंने निर्लज्जता से अहिंसा की दुहाई दी। मैंने सार्वजनिक रूप से उनके इस व्यवहार की निन्दा की और कहा कि मेरी अहिंसा के अनुसार उनकी हिंसा भी जायज है जो अहिंसा की वृत्ति नहीं रख सकते हों और जिनकी रक्षा में स्त्रियां और बच्चे हों। कायरता को छिपाने की आड़ अहिंसा नहीं है, बल्कि वीरों का यह सबसे बड़ा गुण है। अहिंसा के पालन में तलवार चलाने से कहीं अधिक वीरता की जरूरत है। कायरता और अहिंसा का कुछ मेल है ही नहीं। तलवार को छोड़कर अहिंसा ग्रहण करना संभव है, कभी-कभी सहज भी है। इसलिए अहिंसा में यह बात पहले से मान ली जाती है कि उसे मानने वाले में चोट करने की ताकत भी होगी ही। बदला लेने की प्रवृत्ति पर जान बूझकर लगाया हुआ यह लगाम है। परन्तु निष्क्रिय होकर औरतों के ऐसे असहाय बन कर आत्म-समर्पण करने से तो बदला लेना ही कहीं अच्छा है किन्तु क्षमा उससे बड़ी चीज है। बदला लेना भी कमजोरी है। बदला लेने की इच्छा इस भय से उत्पन्न होती है कि शायद कोई हानि वास्तविक या काल्प-

निक हो। जब कुत्ता डरता है तभी भूंकता या काटता है। उस आदमी को, जिसे संसार में किसी से भी भय नहीं है, उस आदमी पर क्रोध करना भी एक बवाल ही मालूम होगा जो उसे हानि पहुंचाने की विफल चेष्टा कर रहा हो। छोटे लड़के सूर्य पर धूल फेंकते हैं परन्तु वह तो उनसे बदला नहीं लेता। इससे उनकी अपनी ही हानि होती है।"

गांधी जी के लेखों और भाषणों से जो उद्धरण ऊपर दिये गए हैं उनसे उनका अहिंसा विषयक दृष्टिकोण स्पष्ट हो जाता है। उनकी अहिंसा विषयक विवेचना कोई नई वस्तु नहीं है किन्तु अपने पूर्वज महावीर, बुद्ध वगैरह की अहिंसा विषयक भावना का ही सामयिक विवेचन है। हां, उनके प्रयोग का ढंग और क्षेत्र अवश्य निराला है। यथ र्थ में मानव के जीवन व्यवहार में अहिंसा का अवतरण हुए बिना विश्व में शान्ति हो नहीं सकती, क्योंकि अहिंसक मानव गांधी जी के शब्दों में—'प्रेम में मगन रहता है। किसी को अपना दुश्मन नहीं मानता। इससे वह निडर होकर जंगलों और गांवों में सैर करता है। भयानक जानवरों तथा ऐसे जानवरों जैसे मनुष्यों से भी नहीं डरता, उसकी आत्मा को न तो सांप काट सकता है और न पापी का खंजर ही छेद सकता है। शरीर की तो वह चिन्ता ही नहीं करता क्योंकि वह तो काया को कांच की बोतल समझता है। वह जानता है कि एक न एक दिन तो वह फूटनेवाली है। इसलिये वह उसकी रक्षा के लिये संसार को पीड़ित नहीं करता।"

यदि प्रत्येक मानव मानव से, राष्ट्र राष्ट्र से और समाज समाज से इतना निर्द्वन्द हो जाए कि उसके बीच में विचरते हुए उसे कोई भय या शंका न हो और वह अपने शरीर के रक्षा के निमित्त से दूसरे मानवों, राष्ट्रों या समाजों को पीड़ित करना छोड़ दे तो आज के विश्व की समस्या सरल हो सकती है।

नान्यः पन्था — दूसरा कोई मार्ग नहीं है।

न्यायमूर्ति श्री मांगीलाल जैन, न्यायाधीश दिल्ली उच्च-न्यायालय के मौलिक विचार

राजकृष्ण जैन चेरिटेबल ट्रस्ट, नई दिल्ली द्वारा आयोजित स्व० श्री राजकृष्ण जैन स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत इस वर्ष पं० कैलाशचन्द्र जी शास्त्री के दो भाषण 'भारतीय धर्म और अहिंसा' पर हुए थे। इनमें से पहले दिन के व्याख्यान के समय मैं भी समारोह की अध्यक्षता करने के लिए आमंत्रित था। मैंने उस दिन का व्याख्यान सुना था और दूसरे दिन का पढ़ लिया है।

पं० कैलाशचन्द्र जी भारतवर्ष के उन अल्पसंख्यक मनीषियों की शृंखला में से हैं जिनका जीवन भारतीय संस्कृति और चिंतन से गहन अध्ययन में ही समर्पित है। उनके द्वारा अहिंसा के सिद्धांतों पर जो प्रकाश इन भाषणों में डाला गया है वह उनकी विद्वत्ता का स्वयं ही परिचय प्रस्तुत करता है।

अहिंसा मात्र एक वैयक्तिक जीवन-दर्शन ही नहीं है परन्तु मुझे तो यह लगता है कि यदि हमारे तीर्थंकरों ने इसे दृढ़ता से प्रतिपादित व प्रतिष्ठित न किया होता तो सृष्टि व संस्कृति कभी की संहार के कारण समाप्तप्राय: हो गई होती और केवल कुछ महादानव ही इस पृथ्वी पर मानवता के विनाश के साक्षी बचते। जैन चिन्तकों और साधकों ने जिस प्रकार इस धर्म को व्यावहारिकता के साँचे में ढाला वह अपने आप में एक महान् प्रयास था। आज जो पर्यावरण को बचाने की ओर समस्त विश्व में अथक प्रयत्न हो रहे हैं उसे भविष्य-दर्शी जैन ऋषियों ने असंख्य वर्षों पूर्व देख लिया था और सारी सृष्टि में प्राणों की प्रतिष्ठा करके उसे मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले विनाश से बचाने में महान् योगदान किया था। कृतघ्न लोग तो स्वीकार करेंगे नहीं, अन्यथा हम सब को अपने जीवन-रक्षण के लिए इन्हीं महापुरुषों का अनुगृहीत ही नहीं होना चाहिए अपितु उनके द्वारा किए गये मार्ग-दर्शन का अनुसरण करना चाहिए।

मैं लगभग ४० वर्षों से न्याय-पालिका के विभिन्न गुणस्थानों से होकर निकला हूं और सामाजिक दण्ड-व्यवस्था को अहिंसा का ही

एक आयाम मानता आया हूं। कुछ जैन जो भारतीयों में राष्ट्र-सेवा-रत हैं उन्हें शत्रु-संहार की शिक्षा ही ग्रहण नहीं करनी होती, किन्तु समय आने पर भीषण संहार भी करना पड़ता है। वे प्रश्न करते हैं कि क्या वे अहिंसक रहकर यह सब कर सकते हैं। वास्तव में जो अहिंसा धर्म में गहन तत्त्व को जानते हैं उनका उत्तर होगा कि शत्रु-संहार और अहिंसा में कोई विरोध नहीं है। अहिंसा का ध्येय जीवन-रक्षण है और यह एक ऐसा यज्ञ है जिसमें अपने जीवन की और शत्रुओं के जीवन की आहुति देकर भी गृहस्थ अहिंसा धर्म का ही पालन करता है। यह विषय गंभीर है और मैं अल्पश्रुत और विद्वानों का परिहासधाम हूं। मैं तो जैन मुनियों व विवेचकों द्वारा प्रतिपादित मार्ग पर विश्वास रखता हूं; इसलिए पण्डित जी द्वारा की गई व्याख्याओं से आनन्दित हुआ हूं। सम्यक् ज्ञान और सम्यक् व्यवहार की इच्छा रखने वालों को इन व्याख्यानों को पढ़ने के लिए अनुमोदित करता हूं। आशा करता हूं कि इस व्याख्यानमाला में ऐसे गवेषणापूर्ण भाषणों की परम्परा बनी रहेगी।

नई दिल्ली।
ता० २५-८-८३

मांगीलाल जैन
जज, उच्च न्यायालय

पं० कैलाशचन्द्र जैन सिद्धान्त शास्त्री, वाराणसी

जन्म : नटहोर, उत्तर प्रदेश १६०३, मातृभाषा : हिन्दी,
अन्य भाषाएं : संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश।

जैन दर्शन के प्रतिष्टित विद्वान, प्रवक्ता, लेखक। जैन और जैनेतर समाज में बहुश्रुत हैं। काशी में शिक्षा-दीक्षा पाए पण्डित जी ने अध्ययन-अध्यापन की आंधी सदी में न केवल अपनी भारतव्यापी सहस्राधिक शिष्य मण्डली के माध्यम से जैन-धर्म की ज्योति को प्रज्वलित रखने में योगदान किया, अपितु भाषण-कला एवं विचारपूर्ण निष्पक्ष लेखनी से विद्वत्समाज की प्रतिष्ठा को भी बनाए रखा।

ज्ञान का आदान-प्रदान पंडित जी के जीवन का अंग जैसा बन गया है। ये वाराणसी के स्याद्वाद महाविद्यालय के माध्यम से छात्रों को, यतस्ततः भ्रमण कर प्रवचन द्वारा जन साधारण को और ग्रन्थ-निर्माण एवं सम्पादन से प्रबुद्धवर्ग को ज्ञान बाँटते रहे हैं। पंडित जी की यह प्रवृति सन् १६२३ से अविच्छिन्न रूप से चालू है।

सामाजिक गतिविधियों में पंडित जी का पूर्ण योगदान रहता है। १६४७ तथा १६५६ में विद्वत्परिषद के अध्यक्ष, अब संरक्षक, १६६३ में श्री देवकुमार प्राच्य विद्या शोध संस्थान द्वारा सम्मानित, सिद्धान्ताचार्य उपाधि से विभूषित। भारतीय ज्ञानपीठ की परामर्श समिति के सदस्य, मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला एवं जोवराज जैन ग्रंथ-माला शोलापुर, जैन-संघ के प्रमुख साप्ताहिक जैन संदेश के सफल. सम्पादक।

पंडित जी सफल पत्रकार, टीकाकार और मौलिक ग्रन्थ निर्माता हैं। प्राभृत, संग्रह, भगवती आराधना, न्यायकुमुद चन्द्रोदय, सागार-धर्मामृत अनगार धर्मामृत, उपासकाचार, तथा जीवकाण्ड आदि को प्रस्तावनाएं व टीकाएं तथा जैनधर्म, जैन न्याय, जैन साहित्य का इतिहास २-२ भाग जैसी अन्य अनेक मूल रचनाएं पंडितजी के गवेषणात्मक

अध्ययन को अभिव्यक्त करती हैं। 'जैनधर्म' कृति उत्तर-प्रदेश सरकार से पुरस्कृत है।

सुन्दर व्यक्तित्व ने पंडितजी के प्रभावशाली व्यक्तित्व को चार चांद लगाए हैं। वाणी की मिठास, हृदय में गहराई तक विश्लेषणात्मक तत्वज्ञान के अमृत को बरसाती है। और ग्राहक भाव-विभोर हो झूम उठता है। आप जिनवाणी को समृद्ध करने, मानवों को सत्पथ दिखलाने और ज्ञान-दान देने वाले परम दानी हैं, समाज की विभूति हैं। समाज द्वारा आपके अनेकों अभिनन्दन होते रहे हैं। दो वर्ष पूर्व आपको एक वृहद अभिनन्दन ग्रन्थ भी समर्पित किया गया।

□□

धन्यवाद भाषण

श्री प्रेमचन्द्र जैन, अध्यक्ष—श्री राजकृष्ण जैन चैरिटेबल ट्रष्ट;
अहिंसा मंदिर १ दरियागंज, नई दिल्ली।

"नमः श्रीवर्धमानाय निर्धूत कलि-ात्मने,
सालोकानां त्रिलोकानां यद्विद्या दर्पणायते।"

माननीय डा० कोठारीजी, श्रीमती कमला वात्सायन, प्रोफेसर आविद हुसैन जी, डा० केवलकृष्ण मित्तल, डा० महेश तिवारी, डा० संघसेनजी एवं आगन्तुक सज्जनों !

मुझे आप सबका धन्यवाद करने में हर्ष होता है कि आपने वाराणसी नगरी से पधारे, आचार्य प्रवर सिद्धान्ताचार्य पंडित कैलाशचन्द्रजी शास्त्री का भाषण आज २६ मार्च १६८३ और कल बड़ी तन्मयता से सुना व सराहा। कल के समारोह की अध्यक्षता न्यायमूर्ति श्री मांगीलाल जी जैन ने करके इसमें चार चाँद लगा दिये। ये भाषण भारतीय धर्म व अहिंसा पर हुए हैं व बेजोड़ हैं।

इससे पहले भाषण (१) माननीय डा० गोविन्दचंद्रजी पाण्डे, (२) महामहिम डा० दौलतसिंहजी कोठारी, (३) न्यायमूर्ति श्री टी० के० टुकोल भूतपूर्व कुलपति बंगलौर विश्वविद्यालय, (४) प्रो० डा० बाबूरामजी सक्सेना इलाहाबाद, (५) डा० नथमलजी टांटिया जैन विश्व भारती लाडनूं, (६) प्रो० टी० जी० कलघटगीजी अध्यक्ष जैन दर्शन व प्राकृत विभाग मयसूर विश्वविद्यालय व (७) अब पंडितजी के हैं। मुझे कहते हुए यह खेद होता है कि श्री नथमलजी टांटियां व डा० बाबूरामजी सक्सेना ने अपने भाषण के आलेख अभी नहीं दिये। और वे अप्रकाशित हैं।

इस भाषण मालाका उद्देश्य जैनधर्म के विभिन्न अंगों जैसे अहिंसा, अनेकान्त, अपरिग्रह, शाकाहार, पूजा-पद्धति, न्याय व दर्शन शास्त्र, इतिहास आदि पर प्रकाश डाल कर आम जनता को बताना है। मुझे विश्वास है कि सभी सज्जन इसकी सुगन्धि से लाभान्वित होते रहेंगे।

मैं डा० कोठारी जी, स्वर्गीय डा० आदिनाथ नेमनाथ उपाध्ये, महामहिम भूतपूर्व उपराष्ट्रपति श्री बी० डी० जत्ती, कुलपति डा० आर० सी० महरोत्रा व बौद्ध दर्शन विभाग के कर्णधारों का आभारी हूं। जिनके प्रयत्न व सुझाव पर ये भाषण माला मेरे पिता श्री राजकृष्णजी जैन की स्मृति में चालू हुई व सुचारु रूप से चल रही है।

अन्त में एक बार मैं आप सबका आभार मानता हूं कि आप लोगों ने यहाँ पधारकर इस भाषण माला का गौरव बढ़ाया और आगे भी मार्ग दर्शन देते रहेंगे।

× × ×

शुद्धाशुद्धि पत्र

अशुद्धि	शुद्धि	पृ०	पं०
क्यां मा	क्यां धर्मान्	२	५
झखा	झंखाड़	३	२०
गवेवणा	गवेषणा	१५	२०
दृष्टियाग	इष्टियाग	१७,	२०, २१, २३, २४
व्रहता	ब्रह्मा	१९	२
सहादर	सहोदर	२०	२
हृष्ट	दृष्ट	२६	६
बड़ी	कड़ी	२८	१६
पशु	पशु से	३२	१
मलतः	मूलतः	३४	३१
अर्गनारायण	गर्गनारायण	३७	१९
विधाओं	विद्याओं	४५	१९
दृष्ट से	दृष्टि से	४८	२०
उप	उन	४८	२६
युज्ञ	युग	६०	३२
मर्मान्त	कर्मान्त	६६	२
शर्शित	दर्शित	६७	६
हृष्ट	दृष्ट	६८	२२
जिज्ञासा	जिघांसा	८०	२०
आहार	आदान	९७	२५
मोहन्य	मोहजन्य	९९	२९
मन	मत	१०८	१०
पशुधन	पशुवध	१०९	१
फलस्वरू	फलस्वरूप	१०९	९
असम्भव	सम्भव	११४	१५
होने से मनोरंजन में	होने से	११७	१८

उत्पन्न होते	उत्पन्न नहीं होते	११६	३०
शाकाहारी	शाकाहार	१२१	७
मानस	मानव	१२३	१०
भावो	भावी	१२६	१४
यः सप्तभिः	यः स सप्तभि	१३५	१५
यावान्ह्य	यद्वा न ह्य	१३५	२५
भारत	भारत के	१३७	१६
शान्ति युद्ध	शान्ति का उपाय युद्ध	१४०	१६
इस वीस	दस बीस	१६२	२०
तलवार का	तलवार का सिद्धान्त	१६४	१६
मरने की तो	मरने की शक्ति तो	१६६	२२
हिंसा	हिंसक	१६६	२३
दूसरे से	दूसरे के	१६७	४
आकर	लाकर	१६८	१३
अहिंसा	हिंसा	१६८	२६
सीमित न	सीमित	१७२	१३